धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो ।
देवावित नमसति जस्स धम्मे सया मणो ॥

"अहिंसा सयम तप रूप जो धर्म है। वह उत्कृष्ट मगल है जिसका धर्म मे सदा मन है उसको देवता भी नमस्कार करते है।

—(दशवैकालिक सूत्र)

जिन्होंने साधु के कठोर व्रत का पालन करते हुए भी समाज-सेवा के महान् काम किये और धर्म के मूल तत्वों को मानव-जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए सतत प्रयास किया, उन

स्व० जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरी

की

पावन स्मृति में

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का नाम इसमे इसी नाम से मुद्रित एक लेख के आधार पर रखा गया है और वह सार्थक है। पण्डित सुखलालजी के लेखन की यह विशेषता है कि वे किसी भी विषय का ऊपर-ऊपर से निरूपण नहीं करते परन्तु प्रतिपाद्य विषय के हार्द को पकडकर ही उसका निरूपण करते है। इसीसे इस पुस्तक मे किया गया संस्कृति धर्म दर्शन जैनधर्म जैनदर्शन जैनआचार जैसे विषयो का प्रतिपादन उस उस विषय के हार्द का ही विशेषत स्पर्श करता है। धर्म जाति के बाह्य स्वरूप को तो सामान्यत सब जानते है क्योकि वह चर्मचक्षुओ से देखा जा सकता है परन्तु उसके पीछे तत्त्व क्या है इसकी जानकारी कम लोगो को होती है। इस पुस्तक मे जैन धर्म के तत्त्व की परमार्थ की अथवा उसके हार्द की ही विशेष रूप से जानकारी प्रस्तुत की गई है। इससे इस पुस्तक मे जैनधर्म के बारे मे उसके अनुयायियो को भी बहुत-कुछ नया जानने को मिलेगा और उनके बहुत-से भ्रम दूर होगे। जैनेतरो के लिए तो यह पुस्तक जैनधर्म-परिचय के लिए दीपक जैसी है इसमें सन्देह नहीं।

पण्डितजी के लेखन की दूसरी विशेषता यह है कि वे इतिहास एव तुलना को महत्त्व का स्थान देते है। धार्मिक समझे जानेवाले लोग अपने धर्म की बिना गहरी जानकारी के ही कहते है कि हमारा ही धर्म सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ है परन्तु पण्डितजी इतिहास और तुलना द्वारा धार्मिक समझे जानेवाले लोगो की ऐसी समझ को संशोधित कर निर्भीक बनाने का प्रयत्न करते है। इससे धर्म-निष्ठा मे क्षति आने के बदले वह व्यापक बनती है और सत्य तत्त्व की उपलब्धि के परिणामस्वरूप उसकी निष्ठा अधिक सुदृढ बनती है। पण्डितजी की निरूपण-पद्धति से पाठक मे विवेकबुद्धि जागृत होती है और कइ मान्यताओ का परीक्षण करके हेयो-पादेय का विवेक करने मे वह स्वय समर्थ बनता है। इस प्रकार पाठक की श्रद्धा को वे झकझोर कर एक बार तो उसकी बुनियाद को हिला देते

है, परन्तु वैसा करने के पीछे उनका उद्देश्य पाठक को श्रद्धाहीन बनाने का नही, बल्कि उसकी श्रद्धा के मूल को दृढ करने का है। पाठक सही अर्थ मे श्रद्धालु बनता है और उसका कदाग्रह दूर होता है।

पण्डितजी के लेखन की इन दो विशेषताओ के मूल मे उनका विशाल पठन-पाठन तो है ही, परन्तु उसके अतिरिक्त स्वतन्त्र चिन्तन-मनन करके उन्होने जो एक विशिष्ट वृत्ति साधी है, वह भी है। वह वृत्ति यानी धर्मो एव दर्शनो मे चाहे भेद दिखाई देता हो, परन्तु उस भेद मे रहे हुए अभेद को ढूढकर उन सबका समन्वय करने की वृत्ति। इस समन्वय-भावना के कारण, वे भले ही जैन हो और जैनधर्म के अभ्यासी के तौर पर उन्होंने ख्याति भी प्राप्त की हो, परन्तु उनके लेखो मे सर्वत्र समभाव दृष्टि-गोचर होता है। धर्म जैसे नाजुक विषय मे समभावपूर्वक लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है, फिर भी उन्होंने जैनधर्म के हार्द का जो निरूपण इस पुस्तक मे किया है वह एक तटस्थ विद्वान को शोभा देने वाला है। इसमे जैनधर्म के किसी भक्त के द्वारा की गई अतिरजना नही है, तो उसके विरोधी के द्वारा किया गया दोषदर्शन भी नही है, परन्तु एक विवेचक द्वारा किया गया जैनधर्म के प्राण का निरूपण है।

जैनधर्म का प्रवर्तन किसी एक पुरुष के नाम से, शैव, वैष्णव आदि की भाति, नही हुआ, परन्तु वह जिन अर्थात राग-द्वेष के विजेताओ द्वारा आचरित और उपदिष्ट धर्म का नाम है। अत जैनधर्म का प्रारम्भ किसी एक व्यक्ति ने किया है अथवा किसी एक व्यक्ति ही को उसमे देव के रूप मे स्थान है, ऐसी बात नही, परन्तु जो कोई राग-द्वेष का विजेता हो वह जिन है और उसका धर्म जैनधर्म है। ऐसे जैनधर्म के अनुयायी जैन कहलाते हैं। उन्होंने कालक्रम से जिनमे राग-द्वेष की विजय देखी, उन्हें अपने इष्टदेव के रूप मे स्वीकार किया और वैसे विशिष्ट देवो को 'तीर्थंकर' का नाम दिया। वैसे तीर्थंकरो की सख्या उनके मत से बहुत बडी है, परन्तु इस कालमे—इस युग मे—विशेषत ऋषभदेव से लेकर वर्धमान तक के २४ तीर्थंकर प्रसिद्ध हैं। दूसरे धर्मो की तरह वे ईश्वर के अवतार नहीं है अथवा अनादिसिद्ध ईश्वर भी नही हैं, परन्तु सामान्य मनुष्य के

जन्म मे जन्म जन्मान्तर पूर्व संस्कार के कारण और उस जन्म में विशेष प्रकार की साधना करके तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि तीर्थंकर हम मनुष्यों में से ही एक हैं और उनका सन्देश है कि यदि कोई उनकी तरह प्रयत्न करे तो वह तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकता है। मानव जाति में ऐसा आत्मविश्वास की प्रेरणा करने वाले तीर्थंकर हैं। अन्य धर्मों में मनुष्य से भिन्न जाति के देव पूज्यता प्राप्त करते हैं पर जैनधर्म में मनुष्य ऐसी शक्ति प्राप्त करते हैं, जिससे देव भी उनकी पूजा करते हैं—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

मनुष्य जाति के पद की उत्कृष्टता का वचन महाभारत में आता है
न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् (शान्तिपर्व २ १-२)
—मनुष्य की अपेक्षा कोई श्रेष्ठ नहीं है।

मनुष्य की ऐसी प्रतिष्ठा करने में जैन तीर्थंकरों का हिस्सा अल्प नहीं है। जबतक तीर्थंकरों का प्रभाव न था तबतक इन्द्र आदि देवों की पूजा-प्रतिष्ठा कार्य करते रहे और अनेक हिंसक यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा उन्हें प्रसन्न कर उनसे वे सम्पत्ति मांगते रहे। तीर्थंकरों ने मानव की इस दीनता को हटाकर मनुष्य का भाग्य मनुष्य के हाथों में सौंपा। फलतः धार्मिक मान्यता में नव-जागरण आया। मनुष्य अपनी सामर्थ्य पहचानने लगा और उसने इन्द्र आदि देवों की उपासना का परित्याग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों में भी राम और कृष्ण जैसे मनुष्यों की पूजा होने लगी फिर भले ही कालक्रम से उनको अवतारी पुरुष बना दिया हो। परन्तु मूल बात इतनी तो सच है कि देवों की अपेक्षा भी मनुष्य महान है, यह सन्देश तीर्थंकरों ने ही आर्यों को दिया है।

तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित धर्म का स्वरूप क्या है? उसका सार क्या है? —यह एक शब्द में कहना हो तो कहेंगे कि वह 'अहिंसा' है। आचार में अहिंसा के दो रूप हैं—संयम और तप। संयम से संवर अर्थात् संकोच करना है—शरीर का, मन का और वाणी का। संयम के कारण वह नये बन्धनों में फंसता नहीं और तप के द्वारा वह पुराने उपार्जित बन्धन काट

पाया जाता है। चार्वाक केवल अजीव को पाँच भूतरूप मानते थे और उपनिषद के ऋषि केवल जीव अर्थात् आत्मा-पुरुष-ब्रह्म को मानते थे। इन दोनों मतों का समन्वय जीव एवं अजीव ये दो तत्त्व मानकर जैन दर्शन में हुआ है। संसार और सिद्धि अर्थात् निर्वाण अथवा बन्धन और मोक्ष तभी घट सकते हैं, जब जीव और जीव से भिन्न कोई हो। इसीलिए जीव और अजीव दोनों के अस्तित्व की तार्किक संगति जैनों ने सिद्ध की और पुरुष एवं प्रकृति का अस्तित्व मानकर प्राचीन सांख्यों ने भी वैसी संगति साधी। इसके अतिरिक्त आत्मा को या पुरुष को केवल कूटस्थ मानने से भी बन्ध-मोक्ष जैसी विरोधी अवस्थाएं जीव में नहीं घट सकतीं। इससे सब दर्शनों से प्रथम पहकर बौद्धसम्मत चित्त की भाँति आत्मा को भी एक अपेक्षा से जैनों ने अनित्य माना और सबकी तरह नित्य मानने में भी जैनों को कुछ आपत्ति तो है ही नहीं क्योंकि बन्ध और मोक्ष तथा पुनर्जन्म का चक्र एक ही आत्मा में है। इस प्रकार आत्मा को जैन मत में परिणामी-नित्य माना गया। सांख्यों ने प्रकृति—जड़ तत्त्व को तो परिणामी-नित्य माना था और पुरुष को कूटस्थ परन्तु जैनों ने जड़ और जीव दोनों को परिणामी-नित्य माना। इसमें भी उनकी अनेकान्त दृष्टि स्पष्ट होती है।

जीव के चैतन्य का अनुभव मात्र देह में ही होता है, अतः जैन मत के अनुसार जीव—आत्मा देह परिमाण है। नये-नये जन्म जीव धारण करता है इसलिए उसके लिए गमनागमन अनिवार्य है। इसी कारण जीव को गमन में सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय के नाम से और स्थिति में सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय के नाम से—इस प्रकार दो अजीव द्रव्यों का मानना अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार यदि जीव का संसार हो तो बन्धन भी होना ही चाहिए। यह बन्धन पुद्गल अर्थात् जड़ द्रव्य का है। अतएव पुद्गलास्तिकाय के रूप में एक दूसरा भी अजीव द्रव्य माना गया। इन सबको अवकाश देने वाला द्रव्य आकाश है उसे भी जड़रूप अजीव द्रव्य मानना आवश्यक था। इस प्रकार जैनदर्शन में जीव धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल—ये पाँच अस्तिकाय माने गए हैं। परन्तु जीवादि द्रव्यों की विविध अवस्थाएँ भी परत्वता काल के बिना नहीं हो सकतीं।

फलत एक स्वतत्र कालद्रव्य भी अनिवार्य था। इस प्रकार पाच अस्ति-कायो के स्थान पर छह् द्रव्य भी हुए। जब काल को स्वतत्र द्रव्य नही माना जाता तब उसे जीव और अजीव द्रव्यो के पर्यायरूप मानकर काम चलाया जाता है।

अब सात तत्त्व और नौ तत्त्व के बारे मे थोडा स्पष्टीकरण कर ले। जैनदर्शन मे तत्त्वविचार दो प्रकार से किया जाता है। एक प्रकार के बारे मे हमने ऊपर देखा। दूसरा प्रकार मोक्षमार्ग मे उपयोगी हो, इस तरह पदार्थों की गिनती करने का है। इसमे जीव, अजीव, आस्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वो की गिनती का एक प्रकार और उसमें पुण्य एव पाप का समावेश करके कुल नौ तत्त्व गिनने का दूसरा प्रकार है। वस्तुत जीव और अजीव का विस्तार करके ही सात और नौ तत्त्व गिनाये है, क्योंकि मोक्षमार्ग के वर्णन मे वैसा पृथक्करण उपयोगी होता है। जीव और अजीव का स्पष्टीकरण तो ऊपर किया ही है। अशत अजीव—कर्मसस्कार—बन्धन का जीव से पृथक होना निर्जरा है और सर्वाशत पृथक होना मोक्ष है। कर्म जिन कारणो से जीव के साथ बन्ध मे आते हैं वे कारण आस्रव है और उसका निरोध सवर है। जीव और अजीव—कर्म का एकाकार जैसा सम्बन्ध बन्ध है।

साराश यह कि जीव मे राग-द्वेष, प्रमाद आदि जहातक रहते हैं, वहातक बन्ध के कारणो का अस्तित्व होने से ससारवृद्धि हुआ करती है। उन कारणो का निरोध किया जाय तो ससार भाव दूर होकर जीव सिद्धि अथवा निर्वाण अवस्था प्राप्त करता है। निरोध की प्रक्रिया को सवर कहते हैं, अर्थात जीव की मुक्त होने की भावना—विरति आदि—सवर हैं, और केवल विरति आदि से सन्तुष्ट न होकर जीव कर्म से छूटने के लिए तपश्चर्या आदि कठोर अनुष्ठान आदि भी करता है, उससे निर्जरा—आशिक छुटकारा—होता है और अन्त मे वह मोक्ष प्राप्त करता है।

सक्षेप मे, इस पुस्तक के सकलन के पीछे हमारी दो दृष्टिया रही हैं। एक तो यह कि जैनदर्शन एव जैनधर्म के बारे मे कुछ विशिष्ट जानकारी

जिज्ञासुओ के समक्ष उपस्थित करता । यह जानकारी मिलने पर जैनधर्म तथा जैनदर्शन की दूसरे भारतीय दर्शनो की अपेक्षा क्या विशेषता है तथा उसके साथ वे कहा तक मिलते-जुलते हैं इसका भी कुछ अनुमान जिज्ञासुओ को सहज भाव से हो सकेगा । दूसरी दृष्टि है पूज्य पण्डितजी की सत्य-शोधक गुणग्राहक तटस्थ समन्वयगामी और मौलिक विद्वत्ता का थोडा-सा परिचय जिज्ञासुओ को कराना । समत्व एव सत्य को केन्द्र मे रखकर समस्त भारतीय दर्शनो और धर्मों का अभ्यास करने वाले एक विद्वान के रूप मे पण्डितजी का स्थान अद्वितीय है यह कहने की आवश्यकता नही है ।

जैनधर्म एव जैनदर्शन के प्राथमिक जिज्ञासुओ की दृष्टि से यह पुस्तक तैयार नही की गई परन्तु जिन्हें प्रारम्भिक ज्ञान है ऐसे जिज्ञासु यदि एक अभ्यासी की तरह चिन्तन-मननपूर्वक इस पुस्तक को पढेंगे तो अनेक विषयो के ऊपर नये प्रकाश की उपलब्धि के साथ उन्हें पण्डित जी का और भी अधिक साहित्य पढने की प्रेरणा प्राप्त हुए बिना नही रहेगी ।

इस पुस्तक की एक पूरक पुस्तक के रूप में पण्डितजी की 'चार तीर्थंकर' नाम की पुस्तक पढने का हम सब जिज्ञासुओ से आग्रह करते है ।

इस पुस्तक मे सगृहीत विषयो के अतिरिक्त जैनधर्म-दर्शन विषयक दूसरे भी अनेक विषय ज्ञातव्य हैं परन्तु पुस्तक की पृष्ठ-सख्या की मर्यादा मे रहकर जो कुछ भी बोध सामग्री दी जा सकती थी वह चुनकर देने का प्रयत्न हमने किया है । आशा है जिज्ञासुओ तथा अभ्यासियो को यह उपयोगी सिद्ध होगी ।

यह पुस्तक सामान्य पाठको को भी सुलभ हो इस दृष्टि से अजमेर के श्री मदनचन्द सिरेमल लोढा ट्रस्ट ने इसके प्रकाशन मे एक हजार रुपये की सहायता दी है । पुस्तक का मूल्य इसी से कम रखना सम्भव हो सका है ।

—दलसुख मालवणिया

अनुक्रमणिका

जैनधर्म का प्राण

जैनधर्म का प्राण

: १ :

पूर्व भूमिका

[धर्म, तत्त्वज्ञान, सस्कृति इत्यादि का सामान्य विवेचन]

१ धर्म, तत्त्वज्ञान और सस्कृति

ज्ञान एव विद्या केवल अधिक वाचन से ही प्राप्त होती है, ऐसा नहीं है। कम या अधिक पढ़ना रुचि, शक्ति और सुविधा का प्रश्न है। परन्तु कम पढ़ने पर भी अधिक सिद्धि एव लाभ प्राप्त करना हो तो उसके लिए अनिवार्य शर्त यह है कि मन को उन्मुक्त रखना और सत्यजिज्ञासा की सिद्धि में किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह अथवा रूढ सस्कारो को बीच मे आने न देना। मेरा अनुभव कहता है कि इसके लिए सबसे पहले निर्भयता की आवश्यकता है। धर्म का कोई भी सही और उपयोगी अर्थ होता हो तो वह है निर्भयता के साथ सत्य की खोज। तत्त्वज्ञान सत्यशोध का एक मार्ग है। हम चाहे जिस विषय का अध्ययन करें, परन्तु उसके साथ सत्य और तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध होता है। ये दोनो चीजें किसी भी सीमा मे बद्ध नही होती। मन के सभी द्वार सत्य के लिए उन्मुक्त हो और निर्भयता उसकी पार्श्वभूमि मे हो, तो जो कुछ भी सोचें या करें वह सब तत्त्वज्ञान अथवा धर्म मे आ जाता है।

जीवन मे से मैल और निर्बलता को दूर करना तथा उनके स्थान पर सर्वांगीण स्वच्छता एव सामजस्यपूर्ण बल पैदा करना ही जीवन की सच्ची सस्कृति है। यही बात प्राचीनकाल से प्रत्येक देश और जाति मे धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। हमारे देश मे सस्कृति की भावना हजारो वर्ष पहले से शुरू हुई थी और वह आज भी चल रही है। इस भावना के लिए भारत का नाम सुविख्यात है। सच्ची सस्कृति के बिना मानवता अथवा राष्ट्रीयता पैदा नही होती और वह पनपती भी नही। व्यक्ति की सभी शक्तिया और प्रवृत्तिया एकमात्र सामाजिक कल्याण की दिशा में योजित हो तभी धर्म

अथवा संस्कृति अनिवार्य होती है। धर्म, संस्कृति एवं तत्त्वज्ञान की विकृत समझ दूर करने और सदियों-पुरानी भ्रमणा का उन्मूलन करने के लिए भी संस्कृति की सही और सच्ची समझ आवश्यक है।

(द अ चि भा १ पृ ७)

२ तत्त्वज्ञान और धर्म का सम्बन्ध

तत्त्वज्ञान अर्थात् सत्यशोधन के प्रयत्न में से फलित हुए और फलित होनेवाले सिद्धान्त। धर्म अर्थात् ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार निर्मित वैयक्तिक और सामूहिक जीवनव्यवहार। यह सच है कि एक ही व्यक्ति अथवा समूह की योग्यता तथा शक्ति सदा एक-सी नहीं होती। उसकी भूमिका और अधिकारभेद के अनुसार धर्म में अन्तर आयेगा। इतना ही नहीं, धर्मजन्य अधिक पुरुषार्थ की अपेक्षा रखने से वह शक्ति में तत्त्वज्ञान के पीछे ही रहेगा। फिर भी इन दोनों की दिशा ही मूलतः भिन्न हो तो तत्त्वज्ञान चाहे जितना गहरा और चाहे जितना सत्य हो, तथापि धर्म उसके प्रकाश से वंचित रहेगा। इसके परिणामस्वरूप मानवता का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। तत्त्वज्ञान की पुष्टि, शुद्धि और परिष्कार जीवन में धर्म को उतारे बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के अवलम्बन से रहित धर्म जड़ता और वहम से मुक्त नहीं हो सकता। अतएव दोनों के बीच यदि विसंवाद हो तो वह घातक है।

(द अ चि भा १ पृ १२)

३ धर्म का बीज

धर्म का बीज क्या है और उसका प्रारम्भिक स्वरूप क्या है? हम सभी अनुभव करते हैं कि हममें जिजीविषा है। जिजीविषा केवल मनुष्य, पशु-पक्षी तक ही सीमित नहीं है, यह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट, पतंग और बेक्टेरिया जैसे जन्तुओं में भी है। जिजीविषा के गर्भ में ही सुख की ज्ञात-अज्ञात अभिलाषा अनिवार्य रूप से निहित है। जहाँ सुख की अभिलाषा है वहाँ प्रतिकूल वेदना या दुःख से बचने की वृत्ति भी अवश्य रहती है। इस जिजीविषा, सुखाभिलाषा और दुःख के प्रतिकार की इच्छा में ही धर्म का बीज निहित है।

कोई छोटा या बड़ा प्राणधारी अकेले अपने-आपमें जीना चाहे तो जी नही सकता और वैसा जीवन बिता भी नही सकता। वह अपने छोटे-बड़े सजातीय दल का आश्रय लिये बिना चैन नही पाता। जैसे वह अपने दल में रहकर उसके आश्रय से सुखानुभव करता है वैसे ही यथावसर अपने दल के अन्य व्यक्तियों को यथासभव मदद देकर भी सुखानुभव करता है। यह वस्तुस्थिति चींटी, भौंरे और दीमक जैसे क्षुद्र जन्तुओं के वैज्ञानिक अन्वेषकों ने विस्तार से दरसाई है। इतने दूर न जानेवाले सामान्य निरीक्षक भी पक्षियों और बन्दर जैसे प्राणियों में देख सकते हैं कि तोता, मैना, कौआ आदि पक्षी केवल अपनी सतति के ही नही, बल्कि अपने सजातीय दल के सकट के समय भी उसके निवारणार्थ मरणात प्रयत्न करते हैं और अपने दल का आश्रय किस तरह पसद करते हैं। आप किसी बन्दर के बच्चे को पकड़िए, फिर देखिए कि केवल उसकी माँ ही नही, उस दल के छोटे-बड़े सभी बन्दर उसे बचाने का प्रयत्न करते हैं। इसी तरह पकड़ा जानेवाला बच्चा केवल अपनी माँ की ही नही अन्य बन्दरों की ओर भी बचाव के लिए देखता है। पशु-पक्षियों की यह रोजमर्रा की घटना है तो अतिपरिचित और बहुत मामूली-सी, पर इसमें एक सत्य सूक्ष्मरूप से निहित है।

वह सत्य यह है कि किसी प्राणधारी की जिजीविषा उसके जीवन से अलग नही हो सकती और जिजीविषा की तृप्ति तभी हो सकती है, जब प्राणधारी अपने छोटे-बड़े दल में रहकर उसकी मदद लें और मदद करें। जिजीविषा के साथ अनिवार्य रूप से सकलित इस सजातीय दल से मदद लेने के भाव में ही धर्म का बीज निहित है। अगर समुदाय में रहे बिना और उससे मदद लिए बिना जीवनधारी प्राणी की जीवनेच्छा तृप्त होती, तो धर्म का प्रादुर्भाव सभव ही न था। इस दृष्टि से देखने पर कोई सन्देह नही रहता कि धर्म का बीज हमारी जिजीविषा में है और वह जीवन-विकास की प्राथमिक-से-प्राथमिक स्थिति में भी मौजूद है, चाहे वह अज्ञान या अव्यक्त अवस्था ही क्यों न हो।

हरिण जैसे कोमल स्वभाव के ही नही, बल्कि जगली भैंसों तथा गैण्डों जैसे कठोर स्वभाव के पशुओं में भी देखा जाता है कि वे सब अपना-अपना दल बाँधकर रहते और जीते हैं। इसे हम चाहे आनुवशिक सस्कार मानें

चाहे पूर्वकर्मोपार्जित पर विकसित मनुष्य-जाति म भी वह सामुदायिक वृत्ति अनिवार्य रूपसे देखी जाती है। जब पुरातन मनुष्य जंगली अवस्था मे था तब और अब मनुष्य सभ्य गिना जाता है तब भी यह सामुदायिक वृत्ति एक-सी अखण्ड देखी जाती है। हाँ इतना अंतर अवश्य है कि जीवन-विकास की अमुक भूमिका तक सामुदायिक वृत्ति उतनी समान नहीं होती जितनी कि विकसित बुद्धिशील गिने जानेवाले मनुष्य मे है। हम अमान या अस्पष्ट मालवाली सामुदायिक वृत्ति को प्रावाहिक या औघिक वृत्ति कह सकते है। पर यही वृत्ति धर्म-बीज का आश्रय है, इस मे कोई सन्देह नही। इस धर्म-बीज का सामान्य और संक्षिप्त स्वरूप यही है कि वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन के लिए जो अनुकूल हो उसे करना और जो प्रतिकूल हो उसे टालना या उससे बचना।

(द औ चि ख १ पृ ९-५)

४ धर्म का ध्येय

धर्म का ध्येय क्या होना चाहिए ? किस बात को धर्म के ध्येय के तौर पर सिद्धान्त मे विचार मे और आचरण मे स्थान देने से धर्म की सफलता और जीवन की विशेष प्रगति साधी जा सकती है ?

इसका जवाब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति मे अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्य का ठीक-ठीक भान कर्तव्य के प्रति उत्तरदायित्व मे रस और उस रस को मूर्त करके दिखलाने जितना पुरुषार्थ की जागृति—इसी को धर्म का ध्येय मानना चाहिए। यदि उक्त तत्त्वो को धर्म के ध्येय के रूप में स्वीकार करके उन पर भार दिया जाय तो प्रजाजीवन समग्रभाव से पलट सकता है।

(द अ चि भा १ पृ ६४)

५ धर्म विश्व की सम्पत्ति

आध्यात्मिक धर्म किसी एक व्यक्ति के जीवन मे से छोटे-बड़े स्रोत के रूप मे प्रकट होता है और वह आसपासके मानव-समाज की भूमिका को प्लावित करता है। उस स्रोत का बल और परिमाण चाहे जितना हो वह

सामाजिक जीवन की भूमिका को अमुक अंश में ही आर्द्र करता है। भूमिका की इस अपूर्ण आर्द्रता में ही अनेक कीटाणु पैदा होते हैं और वे अपनी आधारभूत भूमिका को ही खा जाते हैं। इतने में किसी दूसरे व्यक्ति में धर्म का स्रोत फूट पड़ता है और वह पहले की कीटाणुजन्य दुर्गन्ध को साफ करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह दूसरा स्रोत पूर्वस्रोत पर जमी हुई काई को साफ करके जीवन की भूमिका में अधिक फलदायी काम छोड़ जाता है। इसके बाद काल के इस दूसरे स्तर पर जब काई जमती है, तब कभी कालक्रम से तीसरे व्यक्ति में से पैदा धर्मस्रोत उसका मार्जन कर डालता है। इस प्रकार मानवजीवन की भूमिका पर धर्मस्रोत के अनेक प्रवाह बहते रहते हैं। इसके फलस्वरूप भूमिका विशेष एवं विशेष योग्य तथा उपजाऊ बनती जाती है।

धर्म-स्रोत का प्रकटीकरण किसी एक देश या किसी एक जाति की पैतृक सम्पत्ति नहीं है, वह तो मानवजातिरूपी एक वृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर आनेवाले सु-फल हैं। उसका प्रभाव चाहे विरल व्यक्ति में हो, परन्तु उसके द्वारा समुदाय का अमुक अंश में विकास अवश्य होता है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० २८)

६ धर्म के दो रूप : बाह्य और आभ्यन्तर

धर्म के दो रूप हैं : एक तो वह जो नजर में आता है और दूसरा वह जो आँखों से नहीं देखा जाता, परन्तु केवल मन से ही समझा जा सकता है। पहले रूप को धर्म की देह और दूसरे रूप को उसकी आत्मा कह सकते हैं।

दुनिया के सभी धर्मों का इतिहास कहता है कि सभी धर्मों की देह जरूर होती है। अतः प्रथम यह देखें कि यह देह किसकी बनती है। सभी छोटे-बड़े धर्मपन्थों का अवलोकन करने पर इतनी बातें तो सर्वसाधारण-सी हैं : शास्त्र, उसका रचयिता तथा उसे समझानेवाला पण्डित अथवा गुरु, तीर्थ, मन्दिर आदि पवित्र समझे जानेवाले स्थान, अमुक प्रकार की उपासना अथवा विशिष्ट प्रकार के क्रियाकाण्ड, वैसे क्रियाकाण्डों और उपासनाओं को पोसने और उन पर निभनेवाला एक वर्ग। सभी धर्मपन्थों में, एक अथवा दूसरे रूप में, उपर्युक्त बातें पाई जाती हैं और वे ही

उस-उस धर्मपन्थ की देह है। अब यह देखना है कि धर्म की आत्मा क्या है? आत्मा अर्थात् चेतना या जीवन। सत्य प्रेम निःस्वार्थता उदारता और विवेक-विनय आदि सद्गुण धर्म की आत्मा है। देह चाहे अनेक और भिन्न भिन्न हो परन्तु आत्मा सर्वत्र एक ही होती है। एक ही आत्मा अनेक देहो द्वारा व्यक्त होती है अथवा यो कह कि एक ही आत्मा अनेक देहो मे जीवन धारण करती है जीवन बहाती है।

(द अ चि भा १ पृ १२२)

* * *

धर्म यानी सत्य की प्राप्ति के लिए बेचैनी—उत्कट अभीप्सा—और विवेकी समभाव तथा इन दो तत्त्वो के आधार पर निर्मित होनेवाला जीवन व्यवहार। यही धर्म पारमार्थिक है। दूसरे धर्म की कोटि में गिने जानेवाले विधि-निषेध क्रियाकाण्ड उपासना के प्रकार आदि सब व्यावहारिक धर्म है। वे तब तक और उतने ही अश में यथार्थ धर्म के नाम के पात्र है जब तक और जितने अश में वे उक्त पारमार्थिक धर्म के साथ अभेद सम्बन्ध रखते है। पारमार्थिक धर्म जीवन की मूलभूत एव अदृश्य वस्तु है। उसका अनुभव या साक्षात्कार तो धार्मिक व्यक्तियो को ही होता है जब कि व्यावहारिक धम दृश्य होने से परपम्य है। पारमार्थिक धर्म का सम्बन्ध न हो तो चाहे जितने प्राचीन और बहुसम्मत सभी धर्म वस्तुत धर्माभास ही है।

(द अ चि भा १ पृ २८)

* * *

धर्म के दो स्वरूप है पहला तात्त्विक—सद्गुणात्मक है, जिसमे सामान्यत किसी का मतभेद नही दूसरा व्यावहारिक—बाह्यप्रवृत्ति रूप है जिसमें विभिन्न प्रकार के मतभेद अनिवार्य है। जो तात्त्विक एव व्यावहारिक धर्म के बीच रहा हुआ भेद समझते है जो तात्त्विक और व्याव हारिक धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे विचार-विमर्श कर सकते है सक्षेप मे तात्त्विक और व्यावहारिक धर्म के समुचित पृथक्करण की तथा

उनके कल्याण की कुंजी जिनको प्राप्त हुई है, उनको व्यावहारिक धर्म के मतभेद क्लेशवर्धक हो नहीं सकते। इसका सार यही निकला कि यदि धर्म की सही और स्पष्ट समझ हो तो कोई भी मतभेद क्लेश पैदा नहीं कर सकता, एकमात्र सही समझ ही क्लेशवर्धक मतभेद के निवारण का उपाय है। यह समझ का तत्त्व प्रयत्न से मानवजाति में फैलाया जा सकता है। अतः ऐसी समझ की प्राप्ति अथवा उसका व्यवस्थित विकास इष्ट है।

शुद्ध वृत्ति और शुद्ध निष्ठा निर्विवाद रूप से धर्म है, जबकि बाह्य व्यवहारों की धर्म-अधर्मता के बारे में मतभेद है। इसलिए बाह्य आचार या व्यवहार, नियम या रीतिरिवाजों की धर्म्यता अथवा अधर्म्यता की कसौटी तात्त्विक धर्म ही हो सकता है।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० ५२-५३)

७ धर्मदृष्टि और उसका ऊर्ध्वीकरण

ऊर्ध्वीकरण का अर्थ है शुद्धीकरण तथा विस्तरण। धर्मदृष्टि जैसे-जैसे शुद्ध होती जाती है अथवा शुद्ध की जाती है तथा उसका विस्तार फैलता जाता है, अर्थात् सिर्फ व्यक्तिगत न रहकर उसके सामुदायिक रूप का जैसे-जैसे निर्माण होता जाता है, वैसे-वैसे उसका ऊर्ध्वीकरण भी होता जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इसी को Sublimation कहते हैं।

जिजीविषा अथवा जीवनवृत्ति तथा धर्मदृष्टि ये दोनों प्राणीमात्र में सहभू एवं सहचारी हैं। धर्मदृष्टि के अभाव में जीवनवृत्ति सन्तुष्ट नहीं होती और जीवनवृत्ति के होने पर ही धर्मदृष्टि का अस्तित्व सम्भव है। ऐसा होने पर भी मनुष्य एवं इतर जीवजगत् के बीच स्थिति भिन्न-भिन्न है। पशु-पक्षी और कीट-पतंग जैसे अनेक प्राणीजातियों के जीव-जन्तुओं में हम देखते हैं कि वे केवल अपने दैहिक जीवन के लिए ही प्रवृत्ति नहीं करते, परन्तु वे अपने-अपने छोटे-बड़े यूथ, दल अथवा वर्ग के लिए भी कुछ-न-कुछ करते ही हैं। यह उनकी एक प्रकार की धर्मवृत्ति हुई। परन्तु इस धर्मवृत्ति के मूल में जातिगत परम्परा से चला आता एक रूढ़ संस्कार होता है, उसके साथ समझदारी अथवा विवेक का तत्त्व खिला नहीं होता

और उसकी कल्पना भी नहीं होती। अतः इस धर्मवृत्ति को धर्मदृष्टि की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

एक मानव प्राणी ही ऐसा है जिसके भीतर धर्मदृष्टि के बीज स्वयम्भू रूप में पड़े हैं। वैसे बीजों में उसकी ज्ञान और जिज्ञासावृत्ति, स्मरणशक्ति और अच्छे-बुरे का विवेक करने की शक्ति तथा ध्येय को सिद्ध करने का पुरुषार्थ—ये मुख्य हैं। मनुष्य के जितना भूतकाल का स्मरण अन्य किसी प्राणी में नहीं है। उसके जितनी भूतकाल की विरासत सम्हालने की और भावी पीढ़ियों को उस विरासत में कुछ अभिवृद्धि करके देने की कला भी और किसी में नहीं है। वह एक बार कुछ भी करने का सङ्कल्प करता है तो उसे साधकर ही रहता है और अपने निर्णयों को भी भूल ज्ञात होने पर, बदलता और सुधारता है। उसके पुरुषार्थ की कोई सीमा नहीं है। वह अनेक नये-नये क्षेत्र खोजता है और उनमें प्रवृत्ति करता है। मानव जाति की यह शक्ति ही उसकी धर्मदृष्टि है।

परन्तु मानवजाति में इस समय धर्मदृष्टि के विकास की जो भूमिका दिखाई देती है, वह सहसा सिद्ध नहीं हुई। इसका साक्षी इतिहास है। एडवर्ड केर्ड नाम के विद्वान ने धर्मविकास की भूमिकाओं का निर्देश संक्षेप में इस प्रकार किया है W look out before we look in, and w look in before we look up श्री आनन्दशंकर ध्रुव ने इसे समझाते हुए कहा है कि "प्रथम बहिर्दृष्टि फिर अन्तर्दृष्टि और अन्त में ऊर्ध्वदृष्टि। प्रथम ईश्वर का दर्शन बाह्य सृष्टि में होता है, पश्चात् अन्तरात्मा में (कर्तव्य का भान इत्यादि में) होता है और अन्त में उभय की एकता में होता है। जैन परिभाषा के अनुसार इनको बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा की अवस्था कह सकते हैं।

मनुष्य चाहे जैसा शक्तिशाली क्यों न हो परन्तु वह स्थूल में से अर्थात् द्रव्य में से सूक्ष्म में अर्थात् भाव में प्रगति करता है। यूनान में शिल्प स्थापत्य काव्य नाटक तत्त्वज्ञान गणित आदि कलाओं और विद्याओं का एक काल में अद्भुत विकास हुआ था। वैसे समय में ही एक व्यक्ति में अपूर्व रूप से धर्मदृष्टि, मानवजाति को चकाचौंध कर दे इतने परिमाण में विकसित हुई। उस युग में कलाओं और विद्याओं का मूल्य ही धर्म

दृष्टि के गज से बदल डाला और उसकी उस धर्म-दृष्टि का आज तो चारो ओर से सत्कार हो रहा है।

यहोवाह ने मूसा को जो आदेश दिया वह केवल यहूदी लोगो के स्थूल उद्धार तक ही मर्यादित था और इतर समकालीन जातियों का उसमे विनाश भी सूचित होता था, परन्तु उसी जाति मे ईसा मसीह के पैदा होने पर धर्म-दृष्टि ने दूसरा ही रूप लिया। ईसा मसीह ने धर्म की सभी आज्ञाओं का बाहर-भीतर से संशोधन किया तथा देश-काल का भेद किये बिना सर्वत्र लागू हो सके इस प्रकार उनको उदात्त बनाया। इन सबके पहले ईरान मे जरथोस्त्र ने नवीन दर्शन प्रदान किया था, जो अवेस्ता मे जीवित है। आपस मे लडते-झगडते और अनेक प्रकार के वहमो मे जकडे हुए अरब के कबीलो को एक-दूसरे के साथ जोडने की ओर कुछ अंशो में वहमो से मुक्त करने की धर्म-दृष्टि मुहम्मद पैगम्बर मे विकसित हुई।

परन्तु धर्मदृष्टि के विकास एव ऊर्ध्वीकरण की मुख्य कथा तो मैं भारतीय परम्पराओ के आधार पर कहना चाहता हूँ। वेदो के उष, वरुण इन्द्र आदि सूक्तो में कवियो की सौन्दर्य-दृष्टि, पराक्रम के प्रति अहोभाव तथा किसी दिव्यशक्ति के प्रति भक्ति जैसे मंगल तत्त्व देखे जाते है, परन्तु उन कवियो की धर्म-दृष्टि मुख्य रूप से सकाम है। इसीलिए वे दिव्य-शक्ति के पास अपनी, अपने कुटुम्ब की और पशु आदि परिवार की समृद्धि की याचना करते है और बहुत हुआ तो दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना करते हैं। सकामना की यह भूमिका ब्राह्मणकाल में विकास पाती है। उसमें ऐहिक के अलावा आमुष्मिक भोगो को साधने के नये-नये मार्ग निकाले जाते हैं।

परन्तु, यह सकाम धर्म-दृष्टि समाज मे व्याप्त थी उसी समय सहसा धर्म-दृष्टि का प्रवाह बदलता दिखता है। किसी तपस्वी अथवा ऋषि को सूझा कि दूसरे लोक के सुखभोग चाहना और वह भी अपने लिए अथवा बहुत हुआ तो परिवार या जनपद के लिए तथा दूसरो की अपेक्षा स्वयं अधिक, तो यह शुद्ध धर्म-दृष्टि नही कही जा सकती। धर्म-दृष्टि में कामना का तत्त्व हो तो वह एक प्रकार की न्यूनता ही है। इस विचार मे से नया प्रस्थान शुरू हुआ और उसका जादू व्यापक रूप से फैल गया। ईसापूर्व

आठ-सौ अथवा हजार वर्ष जितने प्राचीन युग में अकाम दृष्टि के अनेक प्रयोग होते देखे जाते हैं। उपनिषद् इसी धर्म-दृष्टि का विवरण करते हैं। जैन बौद्ध आदि सभी की नींव ही इस दृष्टि पर आधारित है। यह अकाम धर्म-दृष्टि, अन्तरात्म-दृष्टि या धर्म-विकास की दूसरी भूमिका है। इसमें मनुष्य पहले अपने-आपको शुद्ध करने का और साथ ही समग्र विश्व के साथ तादात्म्य साधने का प्रयत्न करता है। इसमें ऐहिक और पारलौकिक किसी स्थूल लोभ की इच्छा के लिए आदर है ही नहीं।

कुटुम्ब और समाज में रहकर निष्कामता साधी नहीं जा सकती— इस विचार में से एकान्तवास और अनगारभाव की वृत्ति बल पकड़ती है और ऐसी वृत्ति ही मानो निष्कामता या वासना-निवृत्ति हो इस प्रकार की उसकी प्रतिष्ठा जमती है। काम-तृष्णा की निवृत्ति या शुद्धीकरण का स्थान मुख्य रूप से प्रवृत्ति-त्याग ही लेता है और जीवन जीना मानो एक पाप या शाप हो ऐसी मनोवृत्ति समाज में प्रवेश पाती है। ऐसे समय पुनः अकाम धर्म-दृष्टि का संशोधन होता है। ईशावास्य घोषणा करता है कि समग्र जगत् हमारे जैसे चैतन्य से भरपूर है, अतएव जहाँ जाओगे वहाँ दूसरे भी मौजूद तो हैं ही। वस्तुतः कोई भूखण्ड खाली नहीं है यह जीवन के लिए अनिवार्य है। इसलिए दूसरे की सुविधा का ध्यान रखकर जीवन जीओ और किसीके धन की ओर ललचाओ नहीं। प्राप्तकर्तव्य करते जाओ और जितना जी सको उतना जीओ। ऐसा करने से न तो काम-तृष्णा का बन्धन बाधक होगा और न किसी दूसरे लेप से लिप्त हो सकोगे। सचमुच ईशावास्य ने निष्काम धर्मदृष्टि का अन्तिम अर्थ बतलाकर मानव-जाति को धर्म-दृष्टि के ऊर्ध्वीकरण की ओर प्रयाण करने में खूब मदद की है। गीता के भव्य प्रासाद की नींव ईशावास्य की यह सूझ ही है।

महावीर ने तृष्णादोष और उसके से पैदा होनेवाले दूसरे दोषों को निर्मूल करने की दृष्टि से महती साधना की। बुद्ध ने भी अपने ढंग से वैसी ही साधना की। परन्तु सामान्य समाज ने उसमें से इतना ही अर्थ लिया कि तृष्णा, हिंसा आदि दोष दूर करने चाहिएं लोगों ने दोषों को दूर करने की वृत्ति से निवर्तक

या नकारात्मक धर्मों को पोसा, विकसित किया, और विधायक—भावात्मक धर्म का विकास साधने का पक्ष प्राय समग्र देश में गौण बन गया। ऐसी दशा में महायान भावना का उदय हुआ। अशोक की धर्मलिपियो में इसका दर्शन होता है। इसके पश्चात् तो अनेक भिक्षुक अपने-अपने ढग से इस भावना के द्वारा प्रवर्तकधर्म का विकास साधने लगे। छठी शती के गुजरात मे होनेवाले शान्तिदेव ने यहा तक कह दिया कि दुनिया दु खी हो और हम मोक्ष की इच्छा रखे, ऐसा अरसिक मोक्ष किस काम का ? मध्यकाल तथा उसके बाद के भारत मे अनेक सन्त, विचारक और धर्म-दृष्टि के शोधक महात्मा हुए हैं, परन्तु हमने अपने ही जीवन मे धर्म-दृष्टि का जो ऊर्ध्वीकरण देखा है और अब भी देखते हैं, वह आज तक विश्व मे धर्म-दृष्टि के होनेवाले विकास का सर्वोपरि सोपान है ऐसा ज्ञात हुए बिना नही रहता। (द० अ० चि० भा० १, पृ० ७२-७५)

८ दो धर्म-सस्थाएँ गृहस्थाश्रम-केन्द्रित और सन्यास-केन्द्रित

हमारे देश मे मुख्यतया दो प्रकार की धर्म-सस्थाएँ रही है, जिनकी जडे तथागत बुद्ध और निर्ग्रथनाथ महावीर से भी पुरानी हैं। इनमे से एक गृहस्थाश्रम-केंद्रित है और दूसरी है सन्यास व परिव्रज्या-केंद्रित। पहली सस्था का पोषण और सवर्धन मुख्यतया वैदिक ब्राह्मणो के द्वारा हुआ हैं, जिनका धर्म-व्यवसाय गृह्य तथा श्रौत यज्ञयागादि एव तदनुकूल सस्कारो को लक्ष्य करके चलता रहा है।

दूसरी सस्था गुरु मे और मुख्यतया ब्राह्मणेतर यानी वैदिकेतर, खास-कर कर्मकाडी ब्राह्मणेतर वर्ग के द्वारा आविर्भूत हुई है। आज तो हम चार आश्रम के नाम से इतने अधिक सुपरिचित हैं कि हर कोई यह समझता है कि भारतीय प्रजा पहले ही से चतुराश्रम सस्था की उपासक रही हैं। पर वास्तव मे ऐसा नही है। गृहस्थाश्रम-केंद्रित और सन्यासाश्रम-केंद्रित दोनो सस्थाओ के पारस्परिक सघर्ष तथा आचार-विचार के आदान-प्रदान मे से यह चतुराश्रम सस्था का विचार व आचार स्थिर हुआ है।

जो गृहस्थाश्रम-केंद्रित सस्था को जीवन का प्रधान अङ्ग समझते थे वे सन्यास का विरोध ही नही, अनादर तक करते थे। इस विषय मे गोभिल

गृहसूत्र देखना चाहिये तथा शंकर-दिग्विजय। हम इस संस्था के समर्थन का इतिहास शतपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा पूर्वपक्ष रूप से न्यायभाष्य तक में पाते हैं। दूसरी ओर से सन्यास-केन्द्रित संस्था के पक्षपाती सन्यास पर इतना अधिक भार देते थे कि मानो समाज का जीवन-सर्वस्व ही वह हो। ब्राह्मण लोग वेद और वेदाश्रित कर्मकांडों के आश्रय से जीवन व्यतीत करते रहे, जो गृहस्थों के द्वारा गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है। इसलिये वे गृहस्थाश्रम की प्रधानता, मुख्यता तथा सर्वोपयोगिता पर भार देते आए। जिनके लिये वेदाश्रित कर्मकाण्डों का जीवन-पथ सीधे तौर से खुला न था और जो विद्या-रुचि तथा धर्म-रुचिवाले भी थे उन्होंने धर्म-जीवन के अन्य द्वार खोले, जिनमें से क्रमशः आरण्यक धर्म, तापस-धर्म या देहदमन की भावना में 'तपोधन' की संस्कृति का विकास हुआ है, जो सन्यस्तसंस्कृति का मूल है। ऐसे भी वैदिक ब्राह्मण होते गए जो सन्यस्तसंस्कृति के मुख्य स्तम्भ भी माने जाते हैं। दूसरी तरफ से वेद तथा वेदाश्रित कर्मकाण्डों में सीधा भाग ले सकने का अधिकार न रखनेवाले अनेक ऐसे ब्राह्मणेतर भी हुए हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम-केन्द्रित धर्म-संस्था को ही प्रधानता दी है। पर इतना निश्चित है कि अन्त में दोनों संस्थाओं का समन्वय चतुराश्रम के रूप में ही हुआ है। आज कट्टर कर्मकाण्डी मीमांसक ब्राह्मण भी सन्यास की अवगणना कर नहीं सकता। इसी तरह सन्यास का अत्यन्त पक्षपाती भी गृहस्थाश्रम की उपयोगिता से इन्कार नहीं कर सकता।

(द औ चि ख १ पृ १८-१९)

८. धर्म और बुद्धि

आज तक किसी विचारक ने यह नहीं कहा कि धर्म का उत्पाद और विकास बुद्धि के सिवाय और भी किसी तत्त्व से हो सकता है। प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय का इतिहास यही कहता है कि अमुक बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा ही उस धर्म की उत्पत्ति या शुद्धि हुई है। धर्म के इतिहास और उसके प्रचालन के व्यावहारिक जीवन को देखकर हम केवल एक ही नतीजा निकाल सकते हैं कि बुद्धितत्त्व ही धर्म का उत्पादक, उसका संशोधक, पोषक और प्रचारक रहा है और रह सकता है।

क्या धर्म और बुद्धि में विरोध है ? इसके उत्तर में संक्षेप में इतना कहा जा सकता है उनके बीच कोई विरोध नहीं है और न हो सकता है। यदि सचमुच ही किसी धर्म में इनका विरोध माना जाए तो हम यही कहेंगे कि उस बुद्धि-विरोधी धर्म से हमें कोई मतलब नहीं। ऐसे धर्म को अंगीकार करने की अपेक्षा उसको अंगीकार न करने में ही जीवन सुखी और विकसित रह सकता है।

(द० औ० चि० भा० १, पृ० १३)

१० धर्म और विचार

विचार ही धर्म का पिता, उसका मित्र और उसकी प्रजा है। जिसमें विचार न हो उसमें धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं। धर्म के जीवन और प्रसरण के साथ विचार होना ही है। जो धर्म विचारों को उद्‌बुद्ध न करे और उनका पोषण न करे वह अपनी आत्मा खो देता है। अतएव धर्म विषयक विचारणा या परीक्षा की भी परीक्षा होती रहे तो परिणाम में वह लाभदायी ही है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ४९)

११ धर्म और संस्कृति के बीच अन्तर

धर्म का सच्चा अर्थ है आध्यात्मिक उत्कर्ष, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखता को छोड़कर—वासनाओं के पाश से हटकर—शुद्ध चिद्रूप या आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। यही है यथार्थ धर्म। अगर ऐसा धर्म सचमुच जीवन में प्रकट हो रहा हो तो उसके बाह्य साधन भी—चाहे वे एक या दूसरे रूप में अनेक प्रकार के क्यों न हों—धर्म कहे जा सकते हैं। पर यदि वासनाओं के पाश से मुक्ति न हो या मुक्ति का प्रयत्न भी न हो, तो बाह्य साधन कैसे भी क्यों न हों, वे धर्म-कोटि में कभी आ नहीं सकते। बल्कि वे सभी साधन अधर्म ही बन जाते हैं। सारांश यह कि धर्म का मुख्य मतलब सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-जैसे आध्यात्मिक सद्‌गुणों से है। सच्चे अर्थ में धर्म कोई बाह्य वस्तु नहीं है। तो भी वह बाह्य जीवन और व्यवहार के द्वारा ही प्रकट होता है। धर्म को यदि आत्मा

है। जिस समाज में इस धर्म का जितने अधिक अंशों में अनुसरण होता हो वह समाज उतने अंश में अधिक अच्छा या सन्तुष्ट होगा।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० १४)

१३ धर्म और पंथ

पहले में अर्थात् धर्म में अन्तर्दर्शन होता है, अतः वह आत्मा के भीतर से आता है और उसी का दर्शन कराता है अथवा उस ओर मनुष्य को मोड़ता है, जबकि दूसरे में अर्थात् पंथ में बहिर्दर्शन होता है, वह बाहरी वातावरण और देखादेखी में से ही पैदा होता है। फलतः उसकी दृष्टि बाहर की तरफ लगी रहती है और वह मनुष्य को बाहर की ओर ही देखने में प्रवृत्त रहता है।

धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी होने से आत्मा के गुणों पर ही उसका आधार होता है, जबकि पन्थ रूपजीवी और रूपावलम्बी होने से उसका सारा आधार बाहरी रूपरंग और ठाटबाट पर होता है।

पहले में से एकता और अभेद के भाव उठते हैं और समानता की ऊर्मियाँ उछलती हैं, जबकि दूसरे में भेद और विषमता की दरारें पड़ती हैं और वे बढ़ती जाती हैं। फलतः पहले में मनुष्य दूसरे के और अपने बीच रहे हुए भेद को भूलकर अभेद की ओर झुकता है और दूसरे के दुःख में अपना सुख भूल जाता है। धर्म में ब्रह्म अर्थात् सच्चे जीवन की झांकी होती है, अतः उसकी व्यापकता के आगे मनुष्य को अपना एकाकी रूप अल्प-सा प्रतीत होता है, जबकि पन्थ में इससे उलटा है। उसमें गुण या वैभव न हो तो भी मनुष्य अपने-आपको दूसरों से बड़ा मानता है और वैसा मनवाने का यत्न भी वह करता है। उसमें यदि नम्रता हो तो वह बनावटी होती है, और इसीलिए वह मनुष्य में बड़प्पन का ही ख्याल पैदा करती है। उसकी नम्रता प्रतिष्ठा और महत्ता के लिए ही होती है। सच्चे जीवन की झांकी न होने से और गुणों की अनन्तता का तथा अपनी पामरता का भान न होने से पन्थ में पड़ा मनुष्य अपनी लघुता का अनुभव कर ही नहीं सकता, केवल वह लघुता का दिखावा करता है।

धर्म में सत्यगामिनी दृष्टि होने से उसमें सभी दिशाओं से देखने-

है। इसके विपरीत पन्थ मे चौकावृत्ति इतनी प्रबल होती है कि जहाँ देखो वहाँ छुआछूत की गन्ध आती है और फिर भी चौका-वृत्ति की नाक अपने पाप की दुर्गन्ध सूघ ही नही सकती ! उसे तो जो उसने मान लिया है वही खुशबूदार और स्वय जिस पर चलता हो वही मार्ग श्रेष्ठ लगता है। इसके परिणामस्वरूप उसे अन्यत्र सर्वत्र बदबू और दूसरे में अपने पथ की अपेक्षा ओछापन मालूम होता है।

सक्षेप में कहें तो धर्म मनुष्य को रात-दिन पोषित होनेवाले भेद-सस्कारो मे से अभेद की ओर ले जाता है, तो पन्थ इन भेदो मे अधिकाधिक वृद्धि करता है और कभी दैवयोग से अभेद का अवसर कोई उपस्थित करे तो उससे उसको दु ख होता है। धर्म मे सासारिक छोटे-मोटे झगडे (ज़र, जोरू, ज़मीन के तथा मान-अपमान के झगडे) भी शान्त हो जाते हैं, जबकि पन्थ में धर्म के नाम पर और धार्मिक भावना के बल पर ही झगडे पैदा होते है। झगडे के बिना धर्म की रक्षा ही नही दिखती !

पन्थ थे, हैं और रहेंगे, परन्तु उनमे सुधारने जैसा अथवा करने जैसा कुछ हो तो वह इतना ही है कि उसमेंसे बिछुडी हुई धर्म की आत्मा को उसमे पुन स्थापित किया जाय। इसलिए हम चाहे जिस पन्थ के हो, परन्तु धर्म के तत्त्वो को आत्मसात् करके ही हम उस पन्थ का अनुगमन करें, अहिंसा के लिए हिंसा न करें और सत्य के लिए असत्य न बोलें। पन्थ मे धर्म के प्राण फूकने की खास शर्त यह है कि दृष्टि सत्याग्रही हो। सत्याग्रही होने के लक्षण सक्षेप मे इस प्रकार हैं —

(१) हम स्वय जो मानते या करते हो उसकी पूरी समझ हमे होनी चाहिए और अपनी समझ पर हमें इतना अधिक विश्वास होना चाहिए कि दूसरो को समझाने की आवश्यकता उपस्थित हो तो वह बराबर समझाई जा सके।

(२) अपनी मान्यता की सही समझ और यथार्थ विश्वास की कसौटी यह है कि दूसरो को समझाते समय तनिक भी आवेश अथवा क्रोध न आने पाये और उसकी (अपनी मान्यता और विश्वास की) विशेपता के साथ ही यदि उसमें कोई कमी दिखाई दे तो उसका नि सकोच स्वीकार करना चाहिए।

समझने का धीरज और सभी पक्षों को सह लेने की उदारता होती है। पन्थ में ऐसा नहीं होता। उसमें दृष्टि पक्षपाती होने से वह एक ही—और वह भी अपने ही—पक्ष को सर्वांश सत्य मानकर दूसरी ओर देखने समझने की वृत्ति ही नहीं रखती और विरोधी पक्ष को सह लेने की अथवा उसको समझने की उदारता भी उसमें नहीं होती।

धर्म में अपना दोष-दर्शन और दूसरों के गुणों का दर्शन मुख्य होता है, जबकि पन्थ में इससे विपरीत बात होती है। पन्थवाला मनुष्य दूसरों के गुणों की अपेक्षा उनके दोषों को ही खासतौर पर देखा करता है और उन्हींका बखान किया करता है। उसकी दृष्टि में अपने दोषों की अपेक्षा गुण ही अधिक बसते हैं और उन्हींकी दुहाई वह बजाया करता है, अथवा तो उसकी नजर में अपने दोष आते ही नहीं।

धर्मगामी अथवा धर्मनिष्ठ मनुष्य भगवान् को अपने भीतर और अपने आसपास देखता है, जिससे भूल या पाप करते पर भगवान् देख लेंगे ऐसा भय उसे रहा करता है वह मन-ही-मन लज्जित होता है जबकि पन्थगामी मनुष्य में 'प्रभु वैकुण्ठ में या मुक्तिस्थान में रहते हैं' ऐसी श्रद्धा होती है जिससे भूल करने पर भगवान् से अपने-आपको दूर मानकर, मानो कोई जानता ही न हो उस प्रकार, न तो वह किसीसे डरता है और न लज्जित ही होता है। उसे भूल का दुःख महसूस नहीं होता और अगर होता भी है तो पुनः भूल न करने के लिए नहीं।

धर्म में आधारस्तम्भ चारित्र्य होने से जाति, लिंग, आयु, वेष, चिह्न, भाषा तथा दूसरी वैसी बाहरी बातों को स्थान ही नहीं है, जबकि पन्थ में इन्हीं बाह्य वस्तुओं का स्थान होता है और इनकी मुख्यता में चारित्र्य दब जाता है। बहुत बार तो ऐसा भी होता है कि लोगों में जिसकी प्रतिष्ठा न हो वैसी जाति, वैसे लिंग, वैसी उम्र और वैसे वेष अथवा चिह्नवाले में अति ऊँचा चारित्र्य हो तो भी पन्थ में पड़ा हुआ मनुष्य उसे कद्र में लेता ही नहीं और बहुत बार तो उसका तिरस्कार भी करता है।

धर्म में विश्व ही एकमात्र चौका या विशाल कुटुम्ब है। उसमें दूसरा कोई छोटा-बड़ा चौका न होने से छुआछूत जैसी चीज ही नहीं होती और होती है तो वह इतनी ही कि उसमें अपना ही पाप केवल अस्पृश्य लगता

है। इसके विपरीत पन्थ मे चौकावृत्ति इतनी प्रबल होती है कि जहाँ देखो वहाँ छुआछूत की गन्ध आती है और फिर भी चौका-वृत्ति की नाक अपने पाप की दुर्गन्ध सूंघ ही नही सकती ! उसे तो जो उसने मान लिया है वही खुशबूदार और स्वय जिस पर चलता हो वही मार्ग श्रेष्ठ लगता है। इसके परिणामस्वरूप उसे अन्यत्र सर्वत्र बदबू और दूसरे में अपने पथ की अपेक्षा ओछापन मालूम होता है।

सक्षेप में कहें तो धर्म मनुष्य को रात-दिन पोषित होनेवाले भेद-सस्कारो में से अभेद की ओर ले जाता है, तो पन्थ इन भेदो मे अधिकाधिक वृद्धि करता है और कभी दैवयोग से अभेद का अवसर कोई उपस्थित करे तो उससे उसको दुःख होता है। धर्म मे सासारिक छोटे-मोटे झगडे (जर, जोरू, जमीन के तथा मान-अपमान के झगडे) भी शान्त हो जाते हैं, जबकि पन्थ में धर्म के नाम पर और धार्मिक भावना के बल पर ही झगडे पैदा होते हैं। झगडे के बिना धर्म की रक्षा ही नही दिखती !

पन्थ थे, हैं और रहेंगे, परन्तु उनमे सुधारने जैसा अथवा करने जैसा कुछ हो तो वह इतना ही है कि उसमेंसे बिछुडी हुई धर्म की आत्मा को उनमे पुन स्थापित किया जाय। इसलिए हम चाहे जिस पन्थ के हो, परन्तु धर्म के तत्त्वो को आत्मसात् करके ही हम उस पन्थ का अनुगमन करें, अहिंसा के लिए हिंसा न करें और सत्य के लिए असत्य न बोलें। पन्थ मे धर्म के प्राण फूकने की खास शर्त यह है कि दृष्टि सत्याग्रही हो। सत्याग्रही होने के लक्षण सक्षेप मे इस प्रकार हैं —

(१) हम स्वय जो मानते या करते हो उसकी पूरी समझ हमे होनी चाहिए और अपनी समझ पर हमें इतना अधिक विश्वास होना चाहिए कि दूसरो को समझाने की आवश्यकता उपस्थित हो तो वह बराबर समझाई जा सके।

(२) अपनी मान्यता की सही समझ और यथार्थ विश्वास की कसौटी यह है कि दूसरो को समझाते समय तनिक भी आवेश अथवा क्रोध न आने पाये और उसकी (अपनी मान्यता और विश्वास की) विशेषता के साथ ही यदि उसमें कोई कमी दिखाई दे तो उसका नि सकोच स्वीकार करना चाहिए।

(३) जिस प्रकार अपनी दृष्टि समझाने की धीरज होनी चाहिए उसी प्रकार दूसरे की दृष्टि समझने की भी उतनी ही उदारता और तत्परता होनी चाहिए। दोनों अथवा जितने पहलू जान सकें उन सबकी तुलना तथा बलाबल को जानने की वृत्ति भी होनी चाहिए। इतना ही नहीं अपना पक्ष निर्बल अथवा भ्रान्त प्रतीत होने पर उसका त्याग पहले के स्वीकार की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ माना जाना चाहिए।

(४) कोई भी समग्र सत्य देश काल अथवा संस्कार से परिमित नहीं होता। अतः सभी पहलुओं को देखने की तथा प्रत्येक पहलू में यदि खण्ड-सत्य ज्ञात हो तो उन सबका समन्वय करने की वृत्ति होनी चाहिए।

(द० अ० चि० भा० १ पृ० ११११)

१४ दर्शन और सम्प्रदाय

यह विचार करना उचित होगा कि दर्शन का मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि सम्प्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सम्बन्ध कैसा रहा है तथा उस साम्प्रदायिक सम्बन्ध के फलस्वरूप दर्शन में क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्य रूप से यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शन का मतलब है तत्त्व-साक्षात्कार। सभी दार्शनिक अपने-अपने साम्प्रदायिक दर्शन को साक्षात्कार रूप ही मानते आए हैं। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहते हैं? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सन्देह को अवकाश न हो और साक्षात्कार किये गये तत्त्व में फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शन की उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सम्प्रदायाश्रित विविध दर्शनों में एक ही तत्त्व के विषय में इतने नाना मतभेद कैसे और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा? इस प्रश्न का जवाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्द का मुख्य और अर्थ समझें अर्थ समझा जाता है और जो विरकाल से वह अर्थ

अगर यथार्थ है, तो मेरी राय में वह समग्र दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असंदिग्ध रूप से सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयों में ही घट सकता है—

१ पुनर्जन्म, २ उसका कारण, ३ पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४ साधनविशेष द्वारा पुनर्जन्म के कारणों का उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कार के विषय माने जा सकते हैं। कभी-न-कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओं को उक्त तत्त्वों का साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शन में इन तथा ऐसे तत्त्वों के बारे में न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयों के विशेष-विशेष स्वरूप के विषय में तथा उनके ब्यौरेवार विचार में सभी प्रधान-प्रधान दर्शनों का और कभी-कभी तो एक ही दर्शन की अनेक शाखाओं का इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रों में देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी सम्प्रदाय के ब्यौरेवार मन्तव्य साक्षात्कार के विषय हुए हों। अगर ये मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस सम्प्रदाय के? किसी एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक को ब्यौरे के बारे में साक्षात्कर्त्ता—द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयों में दर्शन का साक्षात्कार अर्थ मान लेने के बाद ब्यौरे के बारे में दर्शन का कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करने में जान पड़ता है कि दर्शन का दूसरा अर्थ 'सबल प्रतीति' ही करना ठीक है। शब्द के अर्थों के भी जुदे-जुदे स्तर होते हैं। दर्शन के अर्थ का यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वाति के "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्र में तथा इसकी व्याख्याओं में यह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचक ने साफ कहा है कि प्रमेयों की श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धा के माने हैं बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कार को सम्प्रदाय में जीवित रखने की एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शन का दूसरा स्तर कहा है।

यों तो सम्प्रदाय हरएक देश के चिन्तकों में देखा जाता है। यूरोप

के तत्त्व-चिन्तन की आद्य भूमि ग्रीस के चिन्तकों में भी परस्पर विरोधी अनेक सम्प्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्व-चिन्तकों के सम्प्रदाय की कथा कुछ निराली ही है। इस देश के सम्प्रदाय मूल में धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी सम्प्रदायों ने तत्त्व-चिन्तन को आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार में भी बहुत कुछ किया है। एक तरह से भारतीय तत्त्व-चिन्तन का चमत्कारपूर्ण बौद्धिक प्रदेश जुदे-जुदे सम्प्रदायों के प्रयत्न का ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हरएक सम्प्रदाय अपने जिन मन्तव्यों पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्यों को दूसरा विरोधी सम्प्रदाय कतई मानने को तैयार नहीं है वे मन्तव्य साम्प्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावना के ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कार के विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कार का सामान्य स्रोत सम्प्रदायों की भूमि पर ब्यौरे के विशेष प्रवाहों में विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीति का रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूप में परिणत हुआ तब उस विश्वास को स्थापित रखने और उसका समर्थन करने के लिए सभी सम्प्रदायों को कल्पनाओं का, दलीलों का तथा तर्कों का सहारा लेना पड़ा। सभी साम्प्रदायिक तत्त्व-चिन्तक अपने-अपने विश्वास की पुष्टि के लिए कल्पनाओं का सहारा पूरे तौर से लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा सम्प्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं अपितु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओं का तथा सत्य-असत्य और अर्धसत्य तर्कों का समावेश भी दर्शन के अर्थ में हो गया। एक तरफ से जहाँ सम्प्रदाय ने मूल दर्शन अर्थात् साक्षात्कार की रक्षा की और उसे स्पष्ट करने के लिये अनेक प्रकार के चिन्तन को चालू रखा तथा उसे व्यक्त करने की अनेक मनोरम कल्पनाएँ कीं, वहाँ दूसरी तरफ से सम्प्रदाय की बाड़ पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्व-चिन्तन की बेल इतनी परामित हो गई कि उसे सम्प्रदाय के सिवाय कोई दूसरा सहारा ही न रहा। फलतः पर्देनशीन पद्मिनियों की तरह तत्त्व-चिन्तन की बेल भी कोमल और संकुचित दृष्टिवाली बन गई।

(द० औ० चि० ख० १ पृ० १८-१९)

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

दृष्टि अर्थात् दर्शन। दर्शन का सामान्य अर्थ देखना होता है। आँख से जो-जो बोध होता है उसे 'देखना' या 'दर्शन' कहते हैं। परन्तु इस स्थान पर दृष्टि या दर्शन का अर्थ मात्र 'नेत्रजन्य बोध' ही नहीं है, यहाँ तो उसका अर्थ अत्यन्त विशाल है। किसी भी इन्द्रिय से होनेवाला ज्ञान यहाँ दृष्टि अथवा दर्शन से अभिप्रेत है। इतना ही नहीं, मन की सहायता के बिना यदि आत्मा का ज्ञान शक्य हो तो वैसा ज्ञान भी यहाँ दृष्टि अथवा दर्शन रूप से अभिप्रेत है। सारांश यह कि सम्यग्दृष्टि अर्थात् किसी भी प्रकार का सम्यक् बोध और मिथ्यादृष्टि अर्थात् प्रत्येक प्रकार का मिथ्या बोध।

देह धारण करना, श्वासोच्छ्वास लेना, ज्ञानेन्द्रियों से जानना और कर्मेन्द्रियों से काम करना—इतना ही मात्र जीवन नहीं है, परन्तु मन और चेतन की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर अनेक प्रकार के संवेदनों का अनुभव करना भी जीवन है। ऐसे व्यापक जीवन के पहलू भी अनेक हैं। इन सब पहलुओं को मार्गदर्शन करानेवाली और जीवन को चलानेवाली 'दृष्टि' है। यदि दृष्टि सही हो तो उसके मार्गदर्शन में जीवित जीवन कल्मषरहित होगा, और यदि दृष्टि भ्रान्त अथवा उल्टी हो तो उसके अनुसार जीवन भी कल्मषयुक्त ही होगा। अतः यह विचारना चाहिए कि सही दृष्टि क्या है और गलत दृष्टि किसे कहते हैं।

कई शब्द इन्द्रियगम्य वस्तु के द्योतक होते हैं, तो कई शब्द मनोगम्य पदार्थ के ही बोधक होते हैं। जहाँ शब्द का अर्थ इन्द्रियगम्य हो वहाँ उसके अर्थ की बोधकता में संशोधन-परिवर्तन करने का कार्य सरल होता है, परन्तु जहाँ शब्द का अर्थ अतीन्द्रिय या मनोगम्य मात्र हो वहाँ अर्थ में कमी-बेशी का काम बहुत कठिन होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि शब्द चिड़िया या घोड़ा आदि शब्दों की भाँति इन्द्रियगम्य वस्तु के द्योतक न होकर मनोगम्य अथवा अतीन्द्रिय भावों के सूचक हैं। इसलिए इन शब्दों के यथार्थ अर्थ की तरफ जाने का अथवा परम्परा से प्रथम अवगत अर्थ में संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन करने का काम बहुत कठिन होने से विवेक और प्रयत्नसाध्य है।

जीवनमात्र में चेतनतत्त्व के अस्तित्व में श्रद्धा रखना और वैसी श्रद्धा

के परिणामस्वरूप चेतन पर छाये हुए अज्ञान एवं राग-द्वेषादि के आवरणों को चारित्र या सम्यक् पुरुषार्थ से हटाने की तमन्ना के चारित्रलक्षी तत्त्व में श्रद्धा रखना सम्यग्दृष्टि अथवा आस्तिकता है। इससे विपरीत अर्थात् चेतनतत्त्व में अथवा चारित्रलक्षी तत्त्व में श्रद्धा न रखना मिथ्यादृष्टि अथवा नास्तिकता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का अर्थ विकासक्रम को देखते हुए, अनुक्रम से तत्त्व-विषयक श्रद्धा और अश्रद्धा ऐसा ही फलित होता है। वाचक उमास्वाति नामक जैन आचार्य ने सम्यग्दृष्टि का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि आध्यात्मिक और चारित्रलक्षी तत्त्वों में श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है। हम देखते हैं कि इस परिभाषा में किसी एक परम्परा के बाह्य आचार-विचार की प्रणालिकाओं का स्पर्श तक नहीं है केवल तत्त्व के वास्तविक स्वरूप में श्रद्धा रखने का ही निर्देश है।

तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी यह अर्थ अन्तिम नहीं है। अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है। तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्वसाक्षात्कार का एक सोपान मात्र है। वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है। तब साधक जीवनमात्र में चेतनतत्त्व का समान भाव से अनुभव करता है और चारित्रलक्षी तत्त्व केवल श्रद्धा के विषय न रहकर जीवन में ताने-बाने की तरह ओतप्रोत हो जाते हैं, एकरस हो जाते हैं। इसी का नाम है तत्त्वसाक्षात्कार और यही सम्यग्दृष्टि शब्द का अन्तिम तथा एकमात्र अर्थ है।

(द अ चि भा १ पृ ५८१ १)

: २ :

जैनधर्म का प्राण

ब्राह्मण और श्रमण परम्परा   वैषम्य और साम्य दृष्टि

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार-विचार पहचाना जाता है वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे, खासकर महावीर के समय मे, निग्गठ धम्म—निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से भी पहचाना जाता था, परन्तु वह श्रमणधर्म भी कहलाता है। अतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैनधर्म ही श्रमणधर्म नहीं है, श्रमणधर्म की और भी अनेक शाखाएँ भूतकाल मे थी और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखाएँ जीवित हैं। निग्रन्थ धर्म या जैनधर्म में श्रमणधर्म के सामान्य लक्षणो के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसको श्रमणधर्म की अन्य शाखाओ से पृथक् करती हैं। जैनधर्म के आचार-विचार की ऐसी विशेषताओ को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि हम प्रारभ मे ही श्रमणधर्म की विशेषताओ को भलीभाँति जान लें, जो उसे ब्राह्मणधर्म से अलग करती हैं।

प्राचीन भारतीय सस्कृति का पट अनेक व विविधरंगी है, जिसमें अनेक धर्म-परपराओ के रङ्ग मिश्रित हैं। इसमें मुख्यतया ध्यान में आनेवाली दो धर्म-परम्पराएँ हैं—(१) ब्राह्मण, (२) श्रमण। इन दो परम्पराओ के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नो को न उठाकर केवल ऐसे मुद्दो पर थोडी-सी चर्चा की जाती है, जो सर्वसमत जैसे हैं तथा जिनसे श्रमणधर्म की मूल भित्ति को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैनधर्म को समझना सरल हो जाता है।

ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओं के बीच छोटे-बडे अनेक विषयो मे मौलिक अतर है, पर उस अतर को सक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण—वैदिक परम्परा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जबकि श्रमण परम्परा

साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है—(१) समाजविषयक (२) साध्यविषयक और (३) प्राणि जगत् के प्रति दृष्टिविषयक। समाजविषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचना में तथा धर्माधिकार में ब्राह्मण वर्ग का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्गों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मणधर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय जो ऐहिक समृद्धि राज्य और पुत्र पशु आदि के नानाविध लाभों में तथा इन्द्रपद स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ हैं[1]। इस धर्म में पशु-पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान में बलि किये जानेवाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्मवैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनों बातों में श्रमणधर्म का साम्य इस प्रकार है। श्रमणधर्म समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर गुण कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए वह समाजरचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न करके गुणकर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि में सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हरएक वर्ण का पुरुष या स्त्री समानरूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमणधर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मणधर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि ऐहिक-पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करनेवाली ऐसी स्थिति जिसमें पूर्ण साम्य

---

१ "कर्मफलबाहुल्याच्च पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात् तत्प्रति च पुरुषाणां कामबाहुल्यात् तदर्थः श्रुतेरधिको यत्नः कर्मसूपपद्यते।" —तैत्ति० १–११। शांकरभाष्य (पूना आष्टेकर क०) पृ० १५१। यही बात "परिणामतापसंस्कारैः गुणवृत्तिविरोधाच्च" इत्यादि योगसूत्र तथा उसके भाष्य में कही है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी है, जो मूल कारिका का स्पष्टीकरण मात्र है।

प्रकट होता है और कोई किसीसे कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव-जगत् के प्रति श्रमणधर्म की दृष्टि पूर्ण आत्मसाम्य की है, जिसमे न केवल पशु-पक्षी आदि या कीट-पतग आदि जन्तु का ही समावेश होता है, अपितु वनस्पति जैसे अति क्षुद्र जीववर्ग का भी समावेश होता है। इसमें किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जानेवाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वधमात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण परम्परा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, जबकि श्रमण परम्परा 'सम'—साम्य, शम और श्रम के आसपास शुरू एव विकसित हुई है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थो मे से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य हैं (१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञयागादि कर्म। वैदिक मत्रो एव सूक्तो के द्वारा जो नानाविध स्तुतिया और प्रार्थनाएँ की जाती है वे ब्रह्मन् कहलाती है। इसी तरह वैदिक मत्रो के विनियोगवाला यज्ञयागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मत्रो और सूक्तो का पाठ करनेवाला पुरोहितवर्ग और यज्ञयागादि कर्म करानेवाला पुरोहितवर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मत्रो के द्वारा की जानेवाली स्तुति-प्रार्थना एव यज्ञयागादि कर्म की अतिप्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ पुरोहितवर्ग का समाज मे एव तत्कालीन धर्म मे ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिसने यह ब्राह्मण वर्ग अपने-आपको जन्म से ही श्रेष्ठ मानने लगा और समाज में भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई, जिसके आधार पर वर्गभेद की मान्यता रूढ हुई और कहा गया कि समाज-पुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ण अन्य अग हैं। इसके विपरीत श्रमणधर्म यह मानता-मनवाता था कि सभी स्त्री-पुरुष सत्कर्म एव धर्मपद के समानरूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभ करता है वह वर्ग एव लिंगभेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है।

यह सामाजिक एव धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण-धर्म की मान्यता से बिलकुल विरुद्ध थी, उसी तरह साध्यविषयक दोनो की मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमणधर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मानकर नि श्रेयस को ही एकमात्र उपादेय मानने की ओर अग्रसर था और इसीलिए वह साध्य की तरह

साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। निषेधक के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निषेधक का मुख्य साधन है जिसमें अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसाप्रधान यज्ञयागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमणधर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच पद-पद पर संघर्ष की सम्भावना है जो सहस्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मणकाल में भी था और बुद्ध एवं महावीर के समय में तथा इसके बाद भी। इसी चिरन्तन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपनी वाणी में व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतञ्जलि 'शाश्वत'—जन्मसिद्ध विरोधवाले अहि-नकुल गो-व्याघ्र जैसे द्वन्द्वों के उदाहरण देते हुए साथ-साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते हैं।[1] यह ठीक है कि हजार प्रयत्न करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नहीं हो सकता जबकि प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना सम्भव है और इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हैं, जिनमें ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नहीं जाता। परन्तु पतञ्जलि का ब्राह्मण-श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्ति ऐसे सम्भव हैं जो ऐसे विरोध से परे हुए हों या हो सकते हों परन्तु सारा ब्राह्मणवर्ग या सारा श्रमणवर्ग मौलिक विरोध से परे नहीं है, यही पतञ्जलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न होकर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतञ्जलि से अनेक शताब्दियों के बाद होनेवाले जैन आचार्य हेमचन्द्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण का उदाहरण देकर पतञ्जलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है।[2] आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमणवर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

---
१ महाभाष्य २ ४ ९।
२ सिद्धहैम ३ १ १४१।

परस्पर प्रभाव और समन्वय

ब्राह्मण और श्रमण परम्परा परस्पर एक-दूसरे के प्रभाव से बिलकुल अछूती नही है। छोटी-मोटी बातो में एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पडा हुआ देखा जाता है। उदाहरणार्थ श्रमणधर्म की साम्यदृष्टि-मूलक अहिंसा-भावना का ब्राह्मण परम्परा पर क्रमश इतना प्रभाव पडा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओ का विषयमात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त-सी हो गई है। अहिंसा व "सर्वभूतहिते रता" सिद्धात का पूरा आग्रह रखनेवाली साख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परम्पराओ ने ब्राह्मण परम्परा के प्राणभूत वेदविषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरुपद का आत्यतिक विरोध नही किया, वे परम्पराएँ क्रमश ब्राह्मणधर्म के सर्व-सग्राहक क्षेत्र में एक या दूसरे रूप मे मिल गई है। इसके विपरीत जैन, बौद्ध आदि जिन परम्पराओ ने वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु-पद के विरुद्ध आत्यतिक आग्रह रखा वे परम्पराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मणधर्म से अलग ही रही हैं, फिर भी उनके शास्त्र एव निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परम्परा की लोकसग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप मे प्रभाव अवश्य पडा है।

श्रमण परम्परा के प्रवर्तक

श्रमणधर्म के मूल प्रवर्तक कौन-कौन थे, वे कहाँ-कहाँ और कब हुए इसका यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है, पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो नि शक कह सकते हैं कि नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदिविद्वान् कपिल ये साम्यधर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे। यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अधकारग्रस्त होने पर भी पौराणिक परम्परा मे से उनका नाम लुप्त नही हुआ है। ब्राह्मण पुराण-ग्रन्थो मे ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप में है सही, पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परम्परा मे ही है, जबकि कपिल का ऋषिरूप से निर्देश जैन-कथा साहित्य मे है, फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो साख्य परम्परा मे तथा साख्य-मूलक पुराण ग्रथो में ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना

और धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखाएँ थीं जिनमें से कोई बाह्य तप पर, कोई ध्यान पर तो कोई मात्र चित्त-शुद्धि या असंगता पर अधिक बल देती थी। पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धिमूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसीमें से अगार-गृह-ग्रन्थ या परिग्रह बन्धन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जबतक परिवार एवं परिग्रह का बन्धन हो तबतक कभी पूर्ण अहिंसा या पूर्ण साम्य सिद्ध नहीं हो सकता, श्रमणधर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पड़ते हैं।

वीतरागता का आग्रह

अहिंसा की भावना के साथ-साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म में ग्रथित तो हो ही गई थी परन्तु साधकों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्म-शुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना संभव है? इसीके उत्तर में से यह विचार फलित हुआ कि राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे 'जिन' अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी अपनी परम्परा में 'जिन' रूप से प्रसिद्ध रहे हैं परन्तु आज जिनकथित जैन-धर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग-द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है। धर्म-विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय में आनेवाली नई-नई धर्म की अवस्थाओं में उस-उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैनधर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमणधर्म की साम्यदृष्टि

अब हमें देखना यह है कि श्रमणधर्म की प्राणभूत साम्यभावना का

जैन परम्परा में क्या स्थान है ? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'—'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांगसूत्र कह-लाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार-विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र में देखने को मिलता है। उसमें जो कुछ कहा गया है उस सबमें साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का सम्बन्ध साम्य, समता या सम से है। साम्यदृष्टिमूलक और साम्यदृष्टिपोषक जो-जो आचार-विचार हों वे सब सामाइय—सामायिक रूप से जैन परम्परा में स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परम्परा में संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परम्परा में भी गृहस्थ और त्यागी सबके लिए छः आवश्यक कर्म बतलाए हैं, जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नहीं है। गृहस्थ या त्यागी अपने-अपने अधिकारानुसार जब-जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब-तब वह 'करेमि भंते ! सामाइयं' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि हे भगवन् ! मैं समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे पद में किया गया है। उसमें कहा है कि मैं सावद्य योग अर्थात् पापव्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अतिविस्तृत ग्रन्थ लिखकर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी

साम्य, योग और भागवत जैसी अन्य परम्पराओं में पूर्वकाल से साम्य-दृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसीका आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान-स्थान पर समदर्शी, साम्य, समता जैसे शब्दों के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और आचारांग की साम्यभावना मूल में एक ही है, फिर भी वह परम्परा-भेद से अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्यभावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से

गीता देवती है और धर्मयुद्ध का आदेश करती है, जबकि आचारांगसूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न करके यही कहेगा कि अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिंसक धर्मयुद्ध नहीं कर सकते बल्कि नैष्कर्म्यपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो।[1] इस कथन की द्योतक भरत-बाहुबली की कथा जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। इस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य जीवन स्वीकार किया पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपना न्यायोचित राज्यभाग लेने की सोची। गांधीजी ने गीता और आचारांग आदि में प्रतिपादित साम्यभाव को अपने जीवन में यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि मानवसंहारक युद्ध तो छोड़ो पर साम्य या चित्त-शुद्धि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने संन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ विकास गांधीजी ने समाज में प्रतिष्ठित किया है।

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद

जैन परम्परा का साम्यदृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्यदृष्टि को ही ब्राह्मण परम्परा में लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टि-पोषक सारे आचार-विचार को 'ब्रह्मचर्य'—'बम्भचेराइं' कहा है जैसा कि बौद्ध परम्परा ने मैत्री आदि भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं पर धम्मपद और शांतिपर्व की तरह जैन ग्रन्थ[3] में भी समत्व धारण करनेवाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अंतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परम्परा में मुख्यतया दो प्रकार से व्यक्त हुई है—(१) आचार में और (२) विचार में। जैनधर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-

---

१ आचारांग १.५.३। २ ब्राह्मणवर्ग २६।

३ उत्तराध्ययन २५।

सूक्ष्म सब आचार साम्यदृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र से आसपास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार को जैन-परम्परा मान्य नही करती। यद्यपि सब धार्मिक परम्पराओ ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है, पर जैन-परम्परा ने उस तत्त्व पर जितना बल दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है उतना बल और उतनी व्यापकता अन्य धर्म-परम्परा दर्शो मे नही जाती। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतग, और वनस्पति ही नही, बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओ तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार मे साम्य दृष्टि की भावना पर जो भार दिया गया है उसी मे से अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचार-सरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मानकर उसपर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरो की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका मे से ही भाषाप्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमश विकास हुआ है। यह नही है कि अन्यान्य परम्पराओ मे अनेकान्तदृष्टि का स्थान ही न हो। मीमासक और कपिल दर्शन के उपरात न्यायदर्शन मे भी अनेकान्तवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्तदृष्टि के ही फल हैं, फिर भी जैन-परम्परा ने जैसे अहिंसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्तदृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए जैन-परम्परा मे आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नही है जिसपर अनेकान्तदृष्टि लागू न की गई हो या अनेकान्तदृष्टि की मर्यादा से बाहर हो। यही कारण है कि अन्यान्य परम्पराओ के विद्वानो ने अनेकान्तदृष्टि को मानते हुए भी उसपर स्वतत्र साहित्य रचा नही है, जबकि जैन-परम्परा के विद्वानो ने उसके अगभूत स्याद्वाद, नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तबतक पूरा समझ मे

जा नहीं सकता जबतक यह न बतलाया जाए कि हिंसा किस की होती है तथा हिंसा कौन व किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से मुख्यतया चार विद्याएँ जैन-परम्परा में फलित हुई हैं—(१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चारित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकान्तदृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुत विद्या और प्रमाण-विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा अनेकान्त और तन्मूलक विद्याएँ ही जैनधर्म के प्राण हैं, जिनपर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है।

आत्मविद्या और उत्क्रान्तिवाद

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट-पतंग पशु-पक्षी रूप में हो या मानव रूप में हो—वह तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही जैन-आत्मविद्या का सार है। समानता के इस सैद्धान्तिक विचार को अमल में लाना—उसे यथासंभव जीवन-व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिंसा है। आत्म-विद्या कहती है यदि जीवन-व्यवहार में साम्य का अनुभव न हो तो आत्म-साम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को अमली बनाने के लिए ही आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर-दुःख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नहीं।

जैसे आत्म-समानता के तात्त्विक विचार में से अहिंसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन-परम्परा में यह भी आध्यात्मिक मन्तव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यों न हो पर वह आगन्तुक है—कर्ममूलक है वास्तविक नहीं है। अतएव क्षुद्र-से-क्षुद्र अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानवकोटिगत जीव भी क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था में जा सकता है इतना ही नहीं बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बन्धनमुक्त हो सकता है। ऊँच-नीच गति या योनि

र। एव सर्वथा मुक्ति का आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा सस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर तात्त्विक रूप मे सब आत्माओ का स्वरूप सर्वथा एक-सा है, जो नैष्कर्म्य अवस्था मे पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।

साख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिसा समर्थक परम्पराओ का और और बातो मे जैन-परम्परा के साथ जो कुछ मतभेद हो, पर अहिसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय मे सब का पूर्ण ऐकमत्य है। आत्मा-द्वैतवादी औपनिषद परम्परा अहिसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नही पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है। वह कहती है कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म—एक ब्रह्मरूप है। जो जीवो का पारस्परिक भेद देखा जाता है वह वास्तविक न होकर अविद्यामूलक है। इसलिए अन्य जीवो को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिए और अन्य के दुख को अपना दुख समझकर हिसा से निवृत्त होना चाहिए।

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओ के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अतर केवल इतना ही है कि पहली परपराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मानकर भी उन सबमे तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिसा का उद्बोधन करती है, जब कि अद्वैत परम्परा जीवात्माओ के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमे तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधार पर अहिसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गतिवाले जीवो मे दिखाई देनेवाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखड ब्रह्म है, जबकि जैन-जैसी द्वैतवादी परम्पराओ के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखड एक ब्रह्म मे से नाना जीव की सृष्टि हुई है जबकि दूसरी परम्पराओ के अनुसार जुदे-जुदे स्वतत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव है। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त मे से ही अद्वैत-मूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमश विकसित हुआ जान पडता है, परन्तु अहिसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद मे भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो, पर अहिसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवो के साथ समानता या

अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।

कर्मविद्या और बंध-मोक्ष

जब तत्त्वतः सब जीवात्मा समान हैं तो फिर उनमें परस्पर वैषम्य क्यों, तथा एक ही जीवात्मा में काल-भेद से वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में से ही कर्मविद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ ही-साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एवं न करने में जीव ही स्वतंत्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। कर्मवाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्मवाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुतः अज्ञान और राग-द्वेष ही कर्म है। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन-परम्परा के अनुसार दर्शन मोह है। इसीको सांख्य, बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं में अविद्या कहा है। अज्ञान जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओं के कारण जो-जो वृत्तियाँ या जो-जो विकार पैदा होते हैं वे ही संक्षेप में राग-द्वेष कहे गए हैं। यद्यपि राग-द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं, पर वस्तुतः सबकी जड़ अज्ञान-दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है। इस विषय में आत्मवादी सब परम्पराएँ एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन-परिभाषा में भावकर्म है और वह आत्मगत संस्कारविशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्टरूप अर्पित करता है। विशिष्टरूप से प्राप्त यह भौतिक परमाणुपुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है, जो जन्मान्तर में जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर-ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्मका विचार जैन-परम्परा की कर्मविद्या में है और अन्य परम्परा की कर्मविद्या में वह नहीं है, परन्तु

सूक्ष्मता से देखनेवाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। सांख्य-योग, वेदान्त आदि परम्पराओं में जन्मजन्मान्तरगामी सूक्ष्म या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान, मन आदि प्राकृत या मायिक तत्त्वों का बना हुआ माना गया है, जो वास्तव में जैन परम्परासम्मत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान में है। सूक्ष्म या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार में और न्यूनाधिक विस्तार में एवं वर्गीकरण में, जो हजारों वर्ष से जुदा-जुदा विचार-चिंतन करनेवाली परम्पराओं में होना स्वाभाविक है। इस तरह हम देखते हैं कि आत्मवादी सब परम्पराओं में पुनर्जन्म के कारणरूप में कर्मतत्त्व का स्वीकार है और जन्मजन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है। न्याय-वैशेषिक परम्परा, जिसमें ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नहीं है, उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्यकर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्त्वचिंतन में स्थिर हुई तबसे अभी तक की बन्ध-मोक्षवादी भारतीय तत्त्व-चिंतकों की आत्मस्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी-कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन-मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है, इसे समझने के लिए संक्षेप में बन्धमोक्षवादी मुख्य-मुख्य सभी परम्पराओं के मन्तव्यों को नीचे दिया जाता है। (१) जैन-परम्परा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में जुदा-जुदा है। वह स्वयं शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल—सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार संकोच विस्तार धारण करता है। वही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल में सांसारिक सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान आदि शुभा-शुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है। (२) सांख्य-योग परम्परा के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न है, पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है। इस परम्परा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तःकरण ही कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, संकोचविस्तारशील, ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति-काल में उन भावों से रहित है। सांख्य-योग परम्परा

अन्तःकरण के बन्धमोक्ष को ही उपचार से पुरुष का मान लिया है। (३) न्यायवैशेषिक परम्परा के अनुसार आत्मा अनेक हैं, वह सांख्य-योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है फिर भी वह जैन-परम्परा की तरह वास्तविक रूप से कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है। (४) अद्वैतवादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव में नाना नहीं पर एक ही है। वह सांख्य-योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है, अतएव न तो वास्तव में बद्ध है और न मुक्त। उसमें अन्तःकरण का बन्धमोक्ष ही उपचार से माना गया है। (५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्ता, भोक्ता, बन्ध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक, वह केवल ज्ञानक्षणपरम्परा रूप है जो हृदय, इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रों में एक साथ या क्रमशः निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन-परम्परासम्मत आत्मस्वरूप बन्धमोक्ष के तत्त्वचिन्तकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। सांख्य-योगसम्मत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिन्तकों की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवादसम्मत आत्मस्वरूप सांख्य-योग की बहुत्वविषयक कल्पना का एक स्वरूप में परिमार्जनमात्र है जब कि न्याय-वैशेषिकसम्मत आत्मस्वरूप जैन और सांख्ययोग की कल्पना का मिश्रण मात्र है। बौद्धसम्मत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एतत्सम्मत चारित्रविद्या

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिन्तकों के अनुसार चारित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले-पहल कर्म का सम्बन्ध कब और क्यों हुआ या ऐसा सम्बन्ध किसने किया ? इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी-न-किसी तरह से कर्म का सम्बन्ध हुआ माना जाए तो चारित्र के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्मबन्ध क्यों नहीं होगा ? इन दो प्रश्नों का उत्तर आध्यात्मिक सभी

चिंतकों ने लगभग एक-सा ही दिया है। चाहे योग हो या वेदान्त, न्याय-वैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनों की तरह जैन दर्शन का भी यही मन्तव्य है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है क्योंकि उस सम्बन्ध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा से बाहर है। सभीने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म, अविद्या या माया का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है, फिर भी व्यक्ति रूप से वह सम्बन्ध सादि है, क्योंकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है। सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है उसमें पुनः कर्म या वासना उत्पन्न क्यों नहीं होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतकों ने यों किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्धि-पक्षपाती है। शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या राग-द्वेष जैसे दोष जड़ से ही उच्छिन्न हो जाते हैं, अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्त्व में अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते हैं।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है, जो जैन-परिभाषा में 'संवर' कहलाता है। वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और राग-द्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से। इसलिए आन्तर चारित्र में दो ही बातें आती हैं (१) आत्म ज्ञान—विवेक-ख्याति, (२) माध्यस्थ्य या राग-द्वेष आदि क्लेशों का जय। ध्यान, व्रत, नियम, तप आदि जो-जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गए हैं।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है। इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन-परम्परा में अत्यंत विशद और विस्तृत वर्णन है। आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्रप्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओं का, बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञान-भूमिकाओं का, आजीवक-परंपराप्रसिद्ध मंद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योगदृष्टियों का तुलनात्मक

अध्ययन बहुत रसप्रद एवं उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं। जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध[1] लेख से जान सकता है।

मैं यहाँ उन चौदह गुणस्थानों का वर्णन न करके संक्षेप में तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिए देता हूँ जिनमें गुणस्थानों का समावेश हो जाता है। पहली भूमिका है बहिरात्म, जिसमें आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय ही नहीं होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है जिसमें आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर राग-द्वेष आदि क्लेश मन्द होकर भी अपना प्रभाव दिखलाते रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्म। इसमें राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या

लोकविद्या में लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव—चेतन और अजीव—अचेतन या जड़ इन दो तत्त्वों का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसी के द्वारा कभी पैदा हुए हैं और न कभी नाश पाते हैं फिर भी स्वभाव से परिणामान्तर पाते रहते हैं। संसार-काल में चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालनेवाला द्रव्य एकमात्र जड़-परमाणुपुञ्ज पुद्गल है जो नानारूप में चेतन के संबंध में आता है और उसकी शक्तियों को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी न कभी उन जड़ द्रव्यों के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती हैं। जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन-परम्परा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना सांख्य-योग, पुराण और बौद्ध आदि परम्पराओं की कल्पना से अनेक अंशों में मिलती-जुलती है।

जैन-परम्परा न्याय-वैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, सांख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नहीं है, तथापि जैन-परम्परासम्मत परमाणु का स्वरूप सांख्य-परम्परासम्मत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्याय

---

[1] 'भारतीय दर्शनोमां आध्यात्मिक विकासक्रम'—पुरातत्त्व १ पृ० १४९।

१

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय की प्राचीनता

श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म का परिचय

ब्राह्मण या वैदिक धर्मानुयायी सम्प्रदाय का विरोधी सम्प्रदाय श्रमण सम्प्रदाय कहलाता है, जो भारत में सम्भवतः वैदिक सम्प्रदाय का प्रवेश होने के पहले ही किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी प्रदेश में अवश्य मौजूद था। श्रमण सम्प्रदाय की शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अनेक थीं, जिनमें सांख्य, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि नाम सुविदित हैं। पुरानी अनेक श्रमण सम्प्रदाय की शाखाएँ एवं प्रतिशाखाएँ जो पहले तो वैदिक सम्प्रदाय की विरोधिनी रहीं, वे एक या दूसरे कारण से धीरे-धीरे बिलकुल वैदिक-सम्प्रदाय में घुलमिल गयी हैं। उदाहरण के तौर पर हम वैष्णव और शैव-सम्प्रदाय का सूचन कर सकते हैं। पुराने वैष्णव और शैव आगम केवल वैदिक-सम्प्रदाय से भिन्न ही न थे अपितु उसका विरोध भी करते थे। और इस कारण से वैदिक सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य भी पुराने वैष्णव और शैव आगमों को वेद विरोधी मानकर उन्हें वेदबाह्य मानते थे। पर आज हम देख सकते हैं कि वे ही वैष्णव और शैव-सम्प्रदाय तथा उनकी अनेक शाखाएँ बिलकुल वैदिक सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गई हैं। यही स्थिति सांख्य-सम्प्रदाय की है जो पहले अवैदिक माना जाता था पर आज वैदिक माना जाता है। ऐसा होते हुए भी कुछ श्रमण सम्प्रदाय अभी ऐसे हैं जो खुद अपने को अ-वैदिक ही मानते मनवाते हैं और वैदिक विद्वान् भी उन सम्प्रदायों को अवैदिक ही मानते आए हैं।

इन सम्प्रदायों में जैन और बौद्ध मुख्य हैं।

श्रमण सम्प्रदाय की सामान्य और संक्षिप्त पहचान यह है कि वह न तो अपौरुषेय-अनादिरूप से या ईश्वररचित रूप से वेदों का प्रामाण्य ही मानता है और न ब्राह्मणवर्ग का जातीय या पुरोहित के नाते गुरुपद स्वीकार करता

सम्प्रदाय के आचार-विचारो की समालोचना करते है तब निग्रन्थ सम्प्रदाय मे प्रतिष्ठित ऐसे तप के ऊपर तीव्र प्रहार करते है। और यही कारण है कि निग्रन्थ सम्प्रदाय के आचार और विचार का ठीक-ठीक उसी सम्प्रदाय की परिभाषा मे वर्णन करके वे उसका प्रतिवाद करते हैं। महावीर और बुद्ध दोनो का उपदेशकाल अमुक समय तक अवश्य ही एक पडता है। इतना ही नहीं, पर वे दोनो अनेक स्थानो मे बिना मिले भी साथ-साथ विचरते हैं। इसलिए हम यह भी देखते ह कि पिटकों मे 'नातपुत्त निग्गठ' रूप मे महावीर का निर्देश आता है।[1]

चार याम और बौद्ध सम्प्रदाय

बौद्धपिटकान्तर्गत 'दीघनिकाय' और 'संयुत्तनिकाय' मे निर्ग्रन्थो के महाव्रत की चर्चा आती है।[2] 'दीघनिकाय' के 'सामञ्ञफलसुत्त' मे श्रेणिक—बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु—कुणिक ने ज्ञातपुत्र महावीर के साथ हुई अपनी मुलाकात का वर्णन बुद्ध के समक्ष किया है, जिसमे ज्ञातपुत्र महावीर के मुख से कहलाया है कि निग्रन्थ चतुर्यामसंवर से संयत होता है, ऐसा ही निर्ग्रन्थ यतात्मा और स्थितात्मा होता है। इसी तरह संयुत्तनिकाय के 'देवदत्त संयुत्त' मे निक नामक व्यक्ति ज्ञातपुत्र महावीर को लक्ष्य मे रख-कर बुद्ध के सम्मुख कहता है कि वह ज्ञातपुत्र महावीर दयालु, कुशल और चतुर्यामयुक्त हैं। इन बौद्ध उल्लेखो के आधार से हम इतना जान सकते है कि खुद बुद्ध के समय मे और उसके बाद भी (बौद्ध पिटको ने अन्तिम स्वरूप प्राप्त किया तब तक भी) बौद्ध परंपरा महावीर को और महावीर के अन्य निर्ग्रन्थो को चतुर्यामयुक्त समझती रही। पाठक यह बात जान लें कि याम का मतलब महाव्रत है, जो योगशास्त्र (२ ३०) के अनुसार यम भी कहलाता है। महावीर की निग्रन्थ-परंपरा आज तक पाँच महाव्रतधारी रही हैं और पाँच महाव्रती रूप से ही शास्त्र मे तथा व्यवहार मे प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति मे बौद्धग्रन्थो मे महावीर और अन्य निर्ग्रन्थो का चतुर्महाव्रतधारी रूप से जो कथन है उसका क्या अर्थ है?—यह प्रश्न अपने-आप ही पैदा होता है।

---

१ दीघ० सु० २।

२ दीघ० सु० २। संयुत्तनिकाय Vol 1, p 66

इसका उत्तर हमें उपलब्ध जैन आगमों से मिल जाता है। उपलब्ध आगमों में भाग्यवश अनेक ऐसे प्राचीन स्तर सुरक्षित रह गए हैं जो केवल महावीर-समकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा की स्थिति पर ही नहीं बल्कि पूर्ववर्ती पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परम्परा की स्थिति पर भी स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। 'भगवती' और 'उत्तराध्ययन' जैसे आगमों में वर्णन मिलता है कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ—जो चार महाव्रतयुक्त थे उनमें से अनेकों ने महावीर का शासन स्वीकार करके उनके द्वारा उपदिष्ट पाँच महाव्रतों को धारण किया और पुरानी चतुर्महाव्रत की परंपरा को बदल दिया जबकि कुछ ऐसे भी पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ रहे जिन्होंने अपनी चतुर्महाव्रत की परंपरा को ही कायम रखा।[1] चार के स्थान में पाँच महाव्रतों की स्थापना महावीर ने क्यों की और कब की यह भी ऐतिहासिक सवाल है। क्यों की—इस प्रश्न का जवाब तो जैन ग्रन्थ देते हैं पर कब की—इसका जवाब वे नहीं देते। अहिंसा सत्य अस्तेय अपरिग्रह इन चार यामों—महाव्रतों की प्रतिष्ठा भ. पार्श्वनाथ के द्वारा हुई थी पर निर्ग्रन्थ परंपरा में क्रमशः ऐसा शैथिल्य आ गया कि कुछ निर्ग्रन्थ अपरिग्रह का अर्थ संग्रह न करना इतना ही करके स्त्रियों का संग्रह या परिग्रह बिना किए भी उनके सम्पर्क से अपरिग्रह का भंग समझते नहीं थे। इस शिथिलता को दूर करने के लिए भ. महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह से अलग स्थापित किया और चतुर्थ व्रत में शुद्धि लाने का प्रयत्न किया। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत की अपरिग्रह से पृथक् स्थापना अपने तीस वर्ष के लम्बे उपदेश-काल में कब की यह तो कहा नहीं जा सकता पर उन्होंने यह स्थापना ऐसी बलपूर्वक की कि जिसके कारण अगली सारी निर्ग्रन्थ-परंपरा पंच महाव्रत की ही प्रतिष्ठा करने लगी और जो इने-गिने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ महावीर के पंच महाव्रत-शासन से अलग रहे उनका आगे कोई अस्तित्व ही न रहा। अगर बौद्ध पिटकों में और जैन आगमों में चार महाव्रत का निर्देश व वर्णन न आता तो आज यह पता भी न चलता कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा कभी चार महाव्रतवाली भी थी।

१ 'उत्थान' महावीरांक (स्था. जैन कान्फरेन्स बम्बई) पृ. ४६।
२ वही।

ऊपर की चर्चा से यह तो अपने-आप विदित हो जाता है कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परम्परा में दीक्षा लेनेवाले ज्ञातपुत्र महावीर ने खुद भी शुरू में चार ही महाव्रत धारण किये थे, पर साम्प्रदायिक स्थिति देखकर उन्होंने उस विषय में कभी-न-कभी सुधार किया। इस सुधार के विरुद्ध पुरानी निर्ग्रन्थ-परम्परा में कैसी चर्चा या तर्क-वितर्क होते थे इसका आभास हमें उत्तराध्ययन के केशि-गौतम संवाद में मिल जाता है, जिसमें कहा गया है कि कुछ पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थों में ऐसा वितर्क होने लगा कि जब पार्श्वनाथ और महावीर का ध्येय एकमात्र मोक्ष ही है तब दोनों के महाव्रत-विषयक उपदेशों में अन्तर क्यों?[1] इस उधेड़बुन को केशी ने गौतम के सामने रखा और गौतम ने इसका खुलासा किया। केशी प्रसन्न हुए और महावीर के शासन को उन्होंने मान लिया। इतनी चर्चा से हम निम्नलिखित नतीजे पर सरलता से आ सकते हैं—

१ महावीर के पहले, कम-से-कम पार्श्वनाथ से लेकर निर्ग्रन्थ-परम्परा में चार महाव्रतों की ही प्रथा थी, जिसको भ० महावीर ने कभी-न-कभी बदला और पाँच महाव्रत रूप में विकसित किया। वही विकसित रूप आज तक के सभी जैन फिरकों में निर्विवादरूप से मान्य है और चार महाव्रत की पुरानी प्रथा केवल ग्रन्थों में ही सुरक्षित है।

२ खुद बुद्ध और उनके समकालीन या उत्तरकालीन सभी बौद्ध भिक्षु निर्ग्रन्थ-परम्परा को एकमात्र चतुर्महाव्रतयुक्त ही समझते थे और महावीर के पंचमहाव्रतसंबंधी आंतरिक सुधार से वे परिचित न थे। जो एक बार बुद्ध ने कहा और जो सामान्य जनता में प्रसिद्धि थी उसीको वे अपनी रचनाओं में दोहराते गए।

बुद्ध ने अपने संघ के लिए पाँच शील या व्रत मुख्य बतलाए हैं, जो संख्या की दृष्टि से तो निर्ग्रन्थ परंपरा के यमों के साथ मिलते हैं, पर दोनों में थोड़ा अन्तर है। अन्तर यह है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा में अपरिग्रह पंचम व्रत है, जबकि बौद्ध परंपरा में मद्यादि का त्याग पाँचवाँ शील है।

यद्यपि बौद्धग्रन्थों में बार-बार चतुर्याम का निर्देश आता है, पर मूल

---

१ उत्तरा० २३ ११-१३, २३-२७, इत्यादि।

टिप्पणों में तथा उनकी अट्ठकथाओं में चातुर्याम का जो अर्थ किया गया है वह गलत तथा अस्पष्ट है।[1] ऐसा क्यों हुआ होगा?—यह प्रश्न आए बिना नहीं रहता। निर्ग्रन्थ-परंपरा जैसी अपनी पड़ोसी समकालीन और अति प्रसिद्ध परंपरा के चार यमों के बारे में बौद्ध ग्रन्थकार इतने अनजान हों या अस्पष्ट हों यह देखकर शुरू-शुरू में आश्चर्य होता है, पर हम जब साम्प्रदायिक स्थिति पर विचार करते हैं तब यह अचरज गायब हो जाता है। हरएक सम्प्रदाय ने दूसरे के प्रति पूरा न्याय नहीं किया है। यह भी सम्भव है कि मूल में बुद्ध तथा उनके समकालीन शिष्य चातुर्याम का पूरा और सच्चा अर्थ जानते हों। वह अर्थ सहज प्रसिद्ध भी था इसलिए उन्होंने उसको बतलाने की आवश्यकता समझी न हो, पर पिटकों की ज्यों-ज्यों संकलना होती गई त्यों-त्यों चातुर्याम का अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता मालूम हुई। किसी बौद्ध भिक्षु ने कल्पना से उसके अर्थ की पूर्ति की, वही आगे ज्यों-की-त्यों पिटकों में चली आई और किसीने यह नहीं सोचा कि चातुर्याम का यह अर्थ निर्ग्रन्थ-परंपरा को सम्मत है या नहीं? बौद्धों के बारे में भी ऐसा विपर्यास जैनों के द्वारा हुआ कहीं-कहीं देखा जाता है। किसी सम्प्रदाय के मन्तव्य का पूर्ण सच्चा स्वरूप तो उसके ग्रन्थों और उसकी परंपरा से जाना जा सकता है।

(द. औ. चि. ख. २ पृ. ५०-५ ९०-१)

---

१ दीघ. सु. २। बौद्ध सुमंगला पृ. ११७।
२ सूत्रकृताङ्ग १ २ २ २४-२८।

४

जैन संस्कृति का हृदय

संस्कृति का स्रोत

संस्कृति का स्रोत नदी के ऐसे प्रवाह के समान है, जो अपने प्रभवस्थान से अन्त तक अनेक दूसरे छोटे-मोटे जल-स्रोतों से मिश्रित, परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणों से भी युक्त होता रहता है और उद्गम-स्थान में पाए जानेवाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि में कुछ-न कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलानेवाली संस्कृति भी उस संस्कृति-सामान्य के नियम का अपवाद नहीं है। जिस संस्कृति को आज हम जैन संस्कृति के नाम से पहचानते है, उसके सर्वप्रथम आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहले-पहल किस स्वरूप में उद्गत हुई इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है, फिर भी उस पुरातन प्रवाह का जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन आधारों के पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनों के ऊपर विचार करते हुए हम जैन संस्कृति का हृदय थोड़ा-बहुत पहचान पाते हैं।

जैन संस्कृति के दो रूप

जैन संस्कृति के भी, दूसरी संस्कृतियों की तरह, दो रूप हैं एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आँख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। पर संस्कृति का आन्तर स्वरूप ऐसा नहीं होता, क्योंकि किसी भी संस्कृति के आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसी को होता है, जो उसे अपने जीवन में तन्मय कर ले। दूसरे लोग उसे जानना चाहें तो साक्षात् दर्शन कर नहीं सकते, पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन बितानेवाले पुरुष या

पुरुषों के जीवन-व्यवहारों से तथा आसपास के वातावरण पर पड़नेवाले प्रभाव-असरों से न किसी भी आन्तर संस्कृति का अन्दाजा लगा सकते हैं। यहाँ मुझे मुख्यतया जैन संस्कृति के उस आन्तर रूप का या हृदय का ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अनुमान पर ही निर्भर है।

जैन संस्कृति का बाह्य स्वरूप

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूप की तरह अनेक वस्तुओं का समावेश होता है। शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आनेवाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खानपान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला सम्बन्ध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बातें बाह्य संस्कृति की अंग हैं पर यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ और जब ये तथा ऐसे दूसरे अंग मौजूद हों वहाँ और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिए। बाह्य अंगों के होते हुए भी कभी हृदय नहीं रहता और बाह्य अंगों के अभाव में भी संस्कृति का हृदय सम्भव है। इस दृष्टि को सामने रखकर विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति भली भाँति समझ सकेगा कि जैन-संस्कृति का हृदय, जिसका वर्णन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ, वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलानेवाले व्यक्तियों में ही सम्भव है ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें जैन समझते हैं या जो अपने को जैन कहते हैं, उनमें अगर आन्तरिक योग्यता न हो तो वह हृदय सम्भव नहीं और जैन नहीं कहलानेवाले व्यक्तियों में भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय सम्भव है। इस तरह जब संस्कृति का बाह्य रूप समाज तक ही सीमित होने के कारण अन्य समाज में सुलभ नहीं होता तब संस्कृति का हृदय उस समाज के अनुयायियों की तरह इतर समाज के अनुयायियों में भी सम्भव होता है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पांत, भाषा और रीति-रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बांध सकते हैं।

जैन संस्कृति का हृदय : निवर्तक धर्म

अब प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का हृदय क्या चीज है? इसका संक्षिप्त जवाब यही है कि निवर्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति करानेवाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिए हमें प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्म-स्वरूपों के बारे में थोड़ा-सा विचार करना होगा।

धर्मों का वर्गीकरण

इस समय जितने भी धर्म दुनिया में जीवित हैं या जिनका थोड़ा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सबके आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होता है।

१. पहला वह है, जो मौजूदा जन्म का ही विचार करता है।
२. दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करता है।
३. तीसरा वह है जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

अनात्मवाद

आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख से उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधना की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक है और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नहीं सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे किये का फल हमारी सन्तान

या हमारा समाज ठीक चलता है। हम पुनर्जन्म करना हो या हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करनेवाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। यही वर्ग कभी आगे जाकर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि में साध्य-पुरुषार्थ एकमात्र काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधन रूप से यह वर्ग अर्थ की कल्पना नहीं करता या धर्म के नाम से तरह-तरह के विधि-विधानों पर विचार नहीं करता। अतएव इस वर्ग को एकमात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभयपुरुषार्थी कह सकते हैं।

प्रवर्तक धर्म

दूसरा विचारकवर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है, पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्म में सुख सम्भव है वैसे ही प्राणी मर कर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्मजन्मान्तर में शारीरिक मानसिक सुखों के प्रकर्ष-अपकर्ष की शृंखला चल रही है। जैसे इस जन्म में वैसे ही जन्मान्तर में भी हम सुखी होना हो या अधिक सुख पाना हो, तो इसके लिए हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हों पर जन्मान्तर के उच्च और उच्चतर सुख के लिए हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचारसरणीवाले लोग तरह तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक-धर्म कहा गया है। प्रवर्तक-धर्म का संक्षेप में सार यह है कि जो और जैसी समाजव्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य-बद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुख-लाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म में भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा सके। प्रवर्तक-धर्म का उद्देश समाजव्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार करना है न कि जन्मा-

त का उच्छेद। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म ये तीन पुरुषार्थ है। इनमे मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नही है। प्राचीन ईरानी आर्य जो अवस्ता को धर्मग्रन्थ मानते थे, और प्राचीन वैदिक आर्य, जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेदभाग को ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी है। आगे जाकर वैदिक दर्शनो मे जो मीमांसा-दर्शन नाम से कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक-धर्म का जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म

निवर्तक-धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक-धर्म का बिलकुल विरोधी है। जो विचारक इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ उस जन्मचक्र को धारण करनेवाली आत्मा को प्रवर्तक-धर्मवादियो की तरह तो मानते ही थे, पर साथ ही वे जन्मान्तर मे प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे, उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर मे कितना ही ऊँचा सुख क्यो न मिले, वह कितने ही दीर्घ-काल तक क्यो न टिका रहे, पर अगर वह सुख कभी-न-कभी नाश पानेवाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अन्त मे निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नही सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज मे थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस खोज की सूझ ने उन्हे मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति संभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देहधारण करना नही पडता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक-धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानो से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखो के लिए प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानो को निवर्तक-धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते, बल्कि वे उन्हे मोक्ष पाने मे बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानो को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि मे पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर होने से प्रवर्तक-धर्मानुयायियो के लिए जो उपादेय था वही निवर्तक-धर्मानुयायियो के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक-धर्म बाधक माना गया,

पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था, वह एकमात्र साधक की अपनी विचार-शुद्धि और वर्तन-शुद्धि पर अवलंबित था। यही विचार और वर्तन की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक-धर्म के नाम से या मोक्ष-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम भारतीय संस्कृति के विविध और विभिन्न ताने-बाने की जाँच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनों में कर्मकाण्डी मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक-धर्मवादी हैं। अवैदिक माने जानेवाले बौद्ध और जैन-दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक-धर्म स्वरूप है ही, पर वैदिक समझे जानेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक-धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक ये सभी निवर्तक-धर्म प्रवर्तक-धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्ठानों को अन्त में हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक्-ज्ञान या आत्मज्ञान को तथा आत्मज्ञानमूलक अनासक्त जीवनव्यवहार को उपादेय मानते हैं एवं उसीके द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना सम्भव बतलाते हैं।

समाजगामी प्रवर्तक धर्म

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक-धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, और धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि-ऋण अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बन्धनों से आबद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है, पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य और न इष्ट।

प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है। उसे लांघ कर कोई विकास कर नहीं सकता।

व्यक्तिगामी निवर्तक धर्म

निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को आत्मतत्त्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा संबंध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन-किन उपायों से संभव है, इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही संभव हो सकता है। उसका समाजगामी होना संभव नहीं। इस कारण प्रवर्तक-धर्म की अपेक्षा निवर्तक-धर्म का क्षेत्र शुरू में बहुत परिमित रहा। निवर्तक-धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बन्धन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम बिना किये भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है, क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं पर उसका निरोध है। अतएव निवर्तक-धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालनेवाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

निवर्तक-धर्म का प्रभाव व विकास

जान पड़ता है, इस देश में जब प्रवर्तक-धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आये तब भी कहीं-न-कहीं इस देश में निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म-संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा, पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था उसने प्रवर्तक-धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावकारी फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक-धर्म के आधार रूप

जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान में प्रवर्तक धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक-धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्यामार्ग न्यायप्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक-धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजाजीवन में आज भी देखते हैं।

समन्वय और संघर्ष

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक-धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैतृक सम्पत्तिरूप प्रवर्तक-धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्यायवैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए जिन्होंने तप ध्यान और आत्मसाक्षात्कार के बाधक क्रियाकाण्ड का तो आत्यन्तिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्यदर्शन के आदिपुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योग दर्शन प्रवर्तक धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे जो अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक-धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे और न युक्त बतलाते थे। भगवान् महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं, फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक-धर्म की पोषक अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक नई पैदा हो रही थीं जो प्रवर्तक-धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं।

अब तक नीचे से ऊपर तक के वर्गों में निवर्तक-धर्म की छाया में विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचार का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्तक-धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी, जिसका सबूत हम जैन-बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय में पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे पक्व विचारक और दृढ़ थे कि जिन्होंने किसी भी तरह से अपने निवर्तक-धर्म में प्रवर्तक-धर्म के आधारभूत मन्तव्यों और शास्त्रों का आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही कट्टर निवर्तक-धर्मी थे। अतएव हम देखते हैं कि पहले से आज तक जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए, फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय में वेद के प्रामाण्य-स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मणग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को मान्य रखा।

निवर्तक-धर्म के मन्तव्य और आचार

शताब्दियों ही नहीं बल्कि सहस्राब्दियों पहले से लेकर धीरे-धीरे निवर्तक-धर्म के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप जिन अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर-बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं

१ आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व।

२ इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद करना।

३ इसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन-व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके लिये शारीरिक, मानसिक, वाचिक विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान, योग-मार्ग का अनुसरण और तीन-चार या पाँच महाव्रतों का यावज्जीवन अनुष्ठान।

४ किसी भी आध्यात्मिक अनुभववाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णनवाले वचनों को ही प्रमाण रूप से

मानता न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को।

५. योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि न कि जन्मसिद्ध वर्णविशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुष का।

६. मद्य-मांस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध।

ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक-धर्म के आचारों और विचारों से जुदा पड़ते थे वे देश में जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय

न्यूनाधिक उक्त लक्षणों को धारण करनेवाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक-धर्मी सम्प्रदाय था जो महावीर के पहले अनेक शताब्दियों से अपने खास ढङ्ग से विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदाय में पहले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे या वे उस सम्प्रदाय में मान्य पुरुष बन चुके थे। उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक धर्मानुयायी पन्थों में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था फिर भी भगवान् महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थवर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज जैन शब्द से महावीरपोषित सम्प्रदाय के 'त्यागी' व 'गृहस्थ' सभी अनुयायियों का जो बोध होता है इसके लिए पहले 'निग्गंथ' और 'समणोवासग' आदि जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

अन्य सम्प्रदायों का जैन-संस्कृति पर प्रभाव

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियों की स्तुति उपासना के स्थान

मे जैनो का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य की उपासना । पर जैन आचार-विचार मे बहिष्कृत देव-देवियाँ पुन , गौण रूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा घुस ही गई, जिनका कि जैन-सस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नही है । जैन-परपरा ने उपासना मे प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जोकि उसके उद्देश्य के साथ सगत है, पर साथ ही उसके आसपास शृगार व आडम्बर का इतना सभार आ गया, जोकि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिल्कुल असगत है । स्त्री और शूद्र का आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज मे सम्मान व स्थान दिलाने का जो जैन-सस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रो को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्मप्रसिद्ध जाति की दीवारें भी खडी की । यहाँतक कि जहाँ ब्राह्मण-परपरा का प्राधान्य रहा वहाँ तो उसने अपने घेरे मे से भी शूद्र कहलानेवाले लोगो को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरू मे जैन-सस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने मे गौरव समझती थी उसने दक्षिण-जैसे देशो मे नए जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियो को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिये असमर्थ करार दिया, जोकि स्पष्टत कट्टर ब्राह्मण-परपरा का ही असर है । मन्त्र, ज्योतिष आदि विद्याएँ, जिनका जैन-सस्कृति के ध्येय के साथ कोई सबन्ध नही, वे भी जैन-सस्कृति मे आईं । इतना ही नही, बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करनेवाले अनगारो तक ने उन विद्याओ को अपनाया । जिन यज्ञोपवीत आदि सस्कारो का मूल मे सस्कृति के साथ कोई सबन्ध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तान मे मध्यकाल मे जैन-सस्कृति का एक अग बन गए और उसके लिए ब्राह्मण-परपरा की तरह जैन-परपरा में भी एक पुरोहितवर्ग कायम हो गया । यज्ञयागादि की ठीक तरह नकल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियो मे आ गए । ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटी कि जैन-सस्कृति को उन साधारण अनुयायियो की रक्षा करनी थी जो दूसरे विरोधी सम्प्रदायो मे से आकर उसमे शरीक होते थे या दूसरे सम्प्रदायो के आचार-विचारो से अपने को बचा न सकते थे ।

अब हम थोड़े में यह भी देखेंगे कि जैन-संस्कृति का दूसरों पर क्या खास असर पड़ा।

जैन-संस्कृति का दूसरों पर प्रभाव

यों तो सिद्धान्ततः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना ज़ोर जैन-परंपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा सब जगह आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहाँतक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहनेवाले तथा जैन-विरोधी समझे जानेवाले साधारण लोग भी जीव-मात्र की हिंसा से नफ़रत करने लगे हैं। अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परंपराओं के आचार-विचार पुरानी वैदिक परंपरा से बिलकुल जुदा हो गए हैं। तपस्या के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक ज़ोर देते रहे हैं। इसका फल पड़ोसी समाजों पर इतना पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेकविध सात्त्विक तपस्याएँ अपना ली हैं। और सामान्यरूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है। यहाँ तक कि अनेक बार मुसलमान सम्राट् तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन-सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं।

मद्य-मांस आदि सात व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिए जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसनसेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे, पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आजतक जारी है और जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक-ठीक है वहाँ इस स्वैरविहार के स्वतन्त्र युग में भी मुसलमान और दूसरे मांसभक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मद्य-मांस का उपयोग करने में सकुचाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तों में जो प्राणिरक्षा और निर्मांस-भोजन का आग्रह है वह जैन-परंपरा का ही प्रभाव है।

जैन-विचारसरणी का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिलकुल अपने विरोधी-पक्ष के अभिप्राय को भी उसकी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो, और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना। यों तो यह सिद्धान्त सभी विचारकों के जीवन में एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है, इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शान्तिलाभ कर सकता है, पर जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त की इतनी अधिक चर्चा की है और इसपर इतना अधिक जोर दिया है कि उससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी सम्प्रदायों को भी कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है।

जैन-परंपरा के आदर्श

जैन-संस्कृति के हृदय को समझने के लिए हमें थोड़े-से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहले से आज तक जैन-परम्परा में एकसे मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सबसे पुराना आदर्श जैन-परम्परा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का सबसे बड़ा भाग उन जवाबदेहियों को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया जो प्रजापालन की जिम्मेदारी के साथ उनपर आ पड़ी थी। उन्होंने उस समय के बिलकुल अपढ़ लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धन्धा न जाननेवाले वनचरों को उन्होंने खेती-बाड़ी तथा बढ़ई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाये, आपस में कैसे बरतना, कैसे नियमों का पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासन की सब जवाबदेहियों को निबाह लेगा तब उसे राज्य भार सौंपकर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छानबीन के लिए उत्कट तपस्वी होकर वे घर से निकल पड़े।

ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थी। उस जमाने में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी ने इस प्रथा का

विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुन्दरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त में भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न-मांग को अस्वीकार किया जबकि भगिनी सुन्दरी ने भाई भरत की लग्नमांग को तपस्या में परिणत कर दिया और फलतः भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा नामशेष हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। *अन्त में द्वन्द्व युद्ध का फैसला हुआ।* भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबली की बारी आई और समर्थतर बाहुबली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टिप्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुख क्षण को आत्मविजय में बदल दिया। यह सोचकर कि राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और वैर-प्रतिवैर तथा कुटुम्ब-कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा-जय में ही है उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवन्त दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खर्व हुआ।

एक समय था जबकि केवल क्षत्रियों में ही नहीं पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्यप्रति के भोजन सामाजिक उत्सव धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षियों का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ाना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के लिए कतल किये जानेवाले निर्दोष पशु-पक्षियों की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियों का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापस लौट आए। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवय *में राजपुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपनाकर* उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी-वध की प्रथा पर आत्मदृष्टान्त से इतना सख्त प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाववाले दूसरे प्रान्तों

में भी यह प्रथा नाम-शेष हो गई और जगह जगह आजतक नज़र आने-वाली पिंजरापोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उनके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठाकर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि आज भी जैन प्रभाववाले क्षेत्रों में कोई साँप तक भी नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी भावना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे, एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हें डस लिया। उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया, जिससे वह "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यों में होने-वाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जैन-संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी-न-किसी तरह सँभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री और व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन-संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों का अपने ढंग से प्रचार किया।

संस्कृति का उद्देश्य

संस्कृतिमात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई की ओर आगे बढ़ना। यह उद्देश्य वह तभी साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्र की भलाई में योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृति के बाह्य अङ्ग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृति के हृदय की बात जुदी है। समय आफत का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक-सी बनी रहती है। कोई भी संस्कृति केवल अपने इतिहास और पुरानी यशोगाथाओं के

सकते न जीवित रह सकती है और न प्रतिष्ठा पा सकती है, जब तक वह भावी-निर्माण में योग न दे।

इस दृष्टि से भी जैन-संस्कृति पर विचार करना संगत है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह संस्कृति मूलतः प्रवृत्ति अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की दृष्टि से आविर्भूत हुई थी। इसके आचार-विचार का सारा ढाँचा उसी लक्ष्य के अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिर में वह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही। उसने एक विशिष्ट समाज का रूप धारण किया।

निवृत्ति और प्रवृत्ति

समाज कोई भी हो, वह एकमात्र निवृत्ति की भूलभुलैयों पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न माननेवाले और सिर्फ प्रवृत्तिचक्र का ही महत्त्व माननेवाले आखिर में उस प्रवृत्ति के तूफान और आँधी में ही फँसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय बिना लिए निवृत्ति हवाई किला ही बन जाती है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तबतक कोई नहीं बच सकता जब तक वह दोषनिवृत्ति के साथ-ही-साथ सद्गुणप्रेरक और कल्याणमय प्रवृत्ति में प्रवृत्त न हो। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता, उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिए। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिए अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमें नए रुधिर का संचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति

ऋषभदेव से लेकर आजतक निवृत्तिगामी कहलानेवाली जैन संस्कृति भी जो किसी-न-किसी प्रकार जीवित रही है, वह एकमात्र निवृत्ति के बल पर नहीं किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे ही। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति-मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याण-कारी संस्कृति का निर्माण किया है जो गीता में उज्जीवित होकर आज

नए उपयोगी स्वरूप में गांधीजी के द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है, तो निवृत्तिलक्षी जैन-संस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्तियों का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति में जीना होगा। जैन-संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आजतक पूंजी मानती आई है उनके आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है जो सबके लिए क्षेमकर हो।

जैन-परंपरा में प्रथम स्थान है त्यागियों का, दूसरा स्थान है गृहस्थों का। त्यागियों को जो पांच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणों में प्रवृत्ति करने की या सद्गुण-पोषक प्रवृत्ति के लिए बल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से बिना बचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और सद्गुण-पोषक प्रवृत्ति को बिना जीवन में स्थान दिये हिंसा आदि से बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नहीं रखता उसके लिए जैन-परंपरा में अणुव्रतों की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषों से अंशतः बचने का विधान किया गया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषों से बचने का अभ्यास करें, पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणों को जीवन में स्थान देते जाएँ। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण-पोषक प्रवृत्तियों में अपने-आपको खपाना ही होगा।

संस्कृतिमात्र का संकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी संभव ही नहीं, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली हैं वे आसक्ति-पूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी संभव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का संकेत करती है। (द० औ० चिं० ख० २, पृ० १३२-१४२)

जैन तत्त्वज्ञान

विश्व के बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप के विषय में तथा सामान्य एवं व्यापक नियमों के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से विचारणा ही तत्त्वज्ञान है। ऐसा नहीं है कि ऐसी विचारणा किसी एक देश, किसी एक जाति या किसी एक प्रजा में ही पैदा होती हो और क्रमशः विकास पाती हो। परन्तु इस प्रकार की विचारणा मनुष्यत्व का विशिष्ट स्वरूप होने से उसका कमी या देर में प्रत्येक देश में बसनेवाली प्रत्येक जाति की मानवप्रजा में कमोबेश अंश में उद्भूत होता है। ऐसी विचारणा भिन्न-भिन्न प्रजाओं के पारस्परिक सम्पर्क के कारण और कभी-कभी तो सर्वथा स्वतन्त्र रूप से भी विशेष विकसित होती है तथा सामान्य भूमिका में से गुजरकर बहु अनेक रूपों में प्रस्फुटित होती है।

प्रारम्भ से लेकर आज तक भूमण्डल पर मानवजाति में जो तात्त्विक विचारणाएँ हुई हैं वे सभी आज विद्यमान नहीं हैं तथा उन सब विचारधाराओं का क्रमिक इतिहास भी पूर्ण रूप से हमारे समक्ष नहीं है, फिर भी इस समय जो कुछ सामग्री हमारे सामने उपस्थित है और उस विषय में हम जो कुछ थोड़ा-बहुत जानते हैं उस पर से इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न एवं परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली चाहे जितनी धाराएँ क्यों न हों परन्तु उन सभी विचारधाराओं का सामान्य स्वरूप एक है और वह है विश्व के बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप व सामान्य तथा व्यापक नियमों के रहस्य की खोज करना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का मूल

कोई एक मानव-व्यक्ति प्रारम्भ से ही पूर्ण नहीं होता, वह बाल्य आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से गुजरकर और इस प्रकार अपने अनुभवों को

है और कभी उनका आविर्भाव मात्र होता है, वैसे यह समग्र स्थूल विश्व किसी सूक्ष्म कारण में से आविर्भूत मात्र होता रहता है और वह मूल कारण तो स्वत सिद्ध अनादि है।

दूसरा विचारप्रवाह ऐसा मानता कि यह बाह्य विश्व किसी एक कारण से पैदा नहीं होता। स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न ऐसे उसके अनेक कारण है, और इन कारणों में भी विश्व दूध में मक्खन की तरह छिपा हुआ नहीं था, परन्तु जैसे लकड़ियों के अलग-अलग टुकड़ों से एक नयी ही गाड़ी तैयार होती है, वैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल कारणों के संश्लेषण-विश्लेषणों से यह बाह्य विश्व सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होता है। पहला परिणामवादी और दूसरा कार्यवादी अथवा आरम्भवादी—ये दोनों विचारप्रवाह यद्यपि बाह्य विश्व के आविर्भाव अथवा उत्पत्ति के विषय में मतभेद रखते थे, तथापि आन्तरिक विश्व के स्वरूप के बारे में सामान्यत एकमत थे। ये दोनों ऐसा मानते थे कि अहं नामक आत्मतत्त्व अनादि है। न तो वह किसी का परिणाम है और न वह किसी कारण में से उत्पन्न हुआ है। जैसे वह आत्मतत्त्व अनादि है वैसे ही देश एवं काल इन दोनों दृष्टियों से वह अनन्त भी है, और वह आत्मतत्त्व देहभेद से भिन्न-भिन्न है, वास्तव में वह एक नहीं है।

तीसरा विचार-प्रवाह ऐसा भी था कि जो बाह्य तत्त्व और आन्तरिक जीव-जगत दोनों को किसी एक अखण्ड सत् तत्त्व का परिणाम मानता और बाह्य अथवा आन्तरिक जगत की प्रकृति या कारण में मूलत किसी भी प्रकार के भेद मानने से इन्कार करता था।

जैन विचारप्रवाह का स्वरूप

उपर्युक्त तीन विचारप्रवाहों को हम अनुक्रम से प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी कह सकते हैं। इनमें से प्रारम्भ के दो विचारप्रवाहों से विशेष मिलता-जुलता और फिर भी उनसे भिन्न एक चौथा विचारप्रवाह भी उनके साथ प्रचलित था। वह विचारप्रवाह था तो परमाणुवादी, परन्तु वह दूसरे विचार-प्रवाह की भाँति बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओं को मूलत भिन्न-भिन्न मानने के पक्ष में न था, मूलत सभी परमाणु

एक-जैसी प्रकृति के हैं ऐसा वह मानता था। और परमाणुवाद का स्वीकार करने पर भी उसमें से सिर्फ विश्व उत्पन्न ही होता है ऐसा न मानकर, प्रकृतिवादी की भाँति परिणाम और आविर्भाव मानने के कारण वह ऐसा कहता कि परमाणुपुंज में से बाह्य विश्व स्वतः परिणत होता है। इस प्रकार इस चौथे विचार प्रवाह का झुकाव परमाणुवाद की भूमिका पर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समस्त बाह्य विश्व को आविर्भाववाला न मानकर उसमें से अनेक कार्यों को उत्पत्तिशील भी मानता था। वह ऐसा भी कहता था कि बाह्य विश्व में कितनी ही वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो बिना किसी पुरुषप्रयत्न के परमाणुरूप कारणों में से उत्पन्न होती हैं। वैसी वस्तुएँ तिल में से तेल की तरह अपने कारणों में से केवल आविर्भूत होती हैं, परन्तु सर्वथा नयी पैदा नहीं होतीं। जबकि बाह्य विश्व में ऐसी भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जो अपने जड़ कारणों में से उत्पन्न होती हैं परन्तु अपनी उत्पत्ति में किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा भी रखती हैं। जो पदार्थ पुरुष के प्रयत्न की सहायता से जन्म लेते हैं वे अपने जड़ कारणों में तिल में तेल की भाँति छिपे हुए नहीं होते परन्तु वे तो सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होते हैं। जब कोई बढ़ई लकड़ियों के अलग अलग टुकड़े इकट्ठे करके उनसे एक मेज तैयार करता है तब वह मेज लकड़ियों के टुकड़ों में तिल में तेल की भाँति छिपी नहीं होती पर मेज बनानेवाले बढ़ई की बुद्धि में कल्पना के रूप में होती है और वह लकड़ी के टुकड़ों के द्वारा मूर्तरूप धारण करती है। यदि बढ़ई चाहता तो लकड़ियों के उन्हीं टुकड़ों से मेज न बनाकर नाव, गाड़ी या दूसरी कोई चीज बना सकता था। तिल में से तेल निकालने की बात इससे सर्वथा भिन्न है। कोई चाहे जितना विचार करे या चाहे तो भी वह तिल में से घी या मक्खन नहीं निकाल सकता। इस प्रकार प्रस्तुत चौथा विचार-प्रवाह परमाणुवादी होने पर भी एक ओर परिणाम एवं आविर्भाव मानने के बारे में प्रकृतिवादी की विचार प्रवाह के साथ मेल खाता है तो दूसरी ओर कार्य एवं उत्पत्ति के बारे में परमाणुवादी विचार प्रवाह के साथ मेल खाता है।

यह तो बाह्य विश्व के बारे में चौथे विचारप्रवाह की मान्यता का निर्देश

किया, परन्तु आत्मतत्त्व के बारे में तो उसकी मान्यता उपर्युक्त तीनों विचारप्रवाहों से भिन्न ही थी। वह मानता था कि देहभेद से आत्मा भिन्न है, परन्तु वे सभी आत्मा देशदृष्टि से व्यापक नहीं है तथा केवल कूटस्थ भी नहीं है। वह ऐसा मानता था कि जैसे बाह्य विश्व परिवर्तनशील है वैसे आत्मा भी परिणामी होने से सतत परिवर्तनशील है। आत्मतत्त्व संकोच-विस्तारशील भी है और इसीलिए वह देहपरिमाण है।

यह चौथा विचारप्रवाह ही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन मूल है। भगवान महावीर के पहले बहुत समय से यह विचारप्रवाह चला आ रहा था और वह अपने ढंग से विकास साधता तथा स्थिर होता जा रहा था। आज इस चौथे विचारप्रवाह का जो स्पष्ट, विकसित और स्थिर रूप हमें उपलब्ध प्राचीन या अर्वाचीन जैन शास्त्रों में दृष्टिगोचर होता है वह अधिकांशत भगवान महावीर के चिन्तन का परिणाम है। जैन मत की श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दो मुख्य शाखाएं हैं। दोनों का साहित्य अलग-अलग है, परन्तु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर हुआ है वह बिना तनिक भी परिवर्तन के एक-सा ही रहा है। यहाँ एक खास बात उल्लेखनीय है और वह यह कि वैदिक और बौद्ध मत में अनेक शाखा-प्रशाखाएं हुई हैं। उनमें से कई तो एक-दूसरे से बिलकुल विरोधी मन्तव्य भी रखती हैं। इन सब भेदों में विशेषता यह है कि वैदिक एवं बौद्ध मत की सभी शाखाओं में आचार-विषयक मतभेद के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तन के बारे में कुछ-न-कुछ मतभेद पाया जाता है, जबकि जैन मत के सभी भेद-प्रभेद केवल आचारभेद पर आधारित हैं, उनमें तत्त्वचिन्तन के बारे में कोई मौलिक मतभेद अब तक देखा-सुना नहीं गया। केवल आर्य तत्त्वचिन्तन के इतिहास में ही नहीं, परन्तु मानवीय तत्त्व-चिन्तन के समग्र इतिहास में यह एक ही ऐसा दृष्टान्त है कि इतने-लम्बे समय के विशिष्ट इतिहास के बावजूद भी जिसके तत्त्व-चिन्तन का प्रवाह मौलिक रूप में अखण्डित ही रहा हो।

पौरस्त्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

तत्त्वज्ञान पौरस्त्य हो या पाश्चात्य, सभी के इतिहास में हम देखते हैं कि यह केवल जगत, जीव और ईश्वर के स्वरूपचिन्तन में ही परिसमाप्त

एक ओर विवेक-शक्ति का विकास साधने की बात कहता है और दूसरी ओर वह राग द्वेष व मन्दराग का नष्ट करने की बात कहता है। जैन दर्शन आत्मा को तीन विभागों में बांटता है। जब अज्ञान और मोह का पूर्ण प्राधान्य हो और उसके कारण आत्मा वास्तविक तत्त्व का विचार ही न कर सके तथा सत्य एवं स्थायी सुख की दिशा में एक भी कदम उठाने की इच्छा तक न कर सके तब वह बहिरात्मा कहलाती है। जीव की यह प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका रहती है तब तक पुनर्जन्म के चक्र का अन्त होना सम्भव ही नहीं है और लौकिक दृष्टि से चाहे जितना विकास दिखाई दे परन्तु वास्तव में वह आत्मा अविकसित ही होती है।

विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव होने पर तथा रागद्वेष के संस्कारों का बल घटने पर दूसरी भूमिका शुरू होती है। इसे जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है। इस भूमिका के समय यद्यपि देहधारण के लिए उपयोगी सभी सांसारिक प्रवृत्तियाँ कमोबेश चलती हैं तथापि विवेकशक्ति के विकास एवं रागद्वेष की मन्दता के अनुपात से वे प्रवृत्तियाँ अनासक्तियुक्त होती हैं। इस दूसरी भूमिका में प्रवृत्ति के होने पर भी उसमें आन्तरिक दृष्टि से निवृत्ति का तत्त्व होता है।

दूसरी भूमिका के अनेक सोपान पार करने पर आत्मा परमात्मा की दशा प्राप्त करती है। यह जीवन-शोधन की अन्तिम एवं पूर्ण भूमिका है।

जैन दर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुँचने के पश्चात् पुनर्जन्म का चक्र सर्वदा के लिए सर्वथा रुक जाता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन पर से हम देख सकते हैं कि अविवेक (मिथ्या दृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही संसार हैं अथवा संसार के कारण हैं। इससे उल्टा विवेक और वीतरागत्व ही मोक्ष है अथवा मोक्ष का मार्ग है। इसी जीवन-शोधन की संक्षिप्त जैन मीमांसा का अनेक जैन-ग्रन्थों में अनेक रूप से संक्षेप या विस्तारपूर्वक, तथा भिन्न भिन्न परिभाषाओं में वर्णन पाया जाता है और यही जीवनमीमांसा अक्षरशः वैदिक एवं बौद्ध दर्शनों में भी पद-पद पर दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारसरणी तथा आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारसरणी का बहुत ही सक्षेप मे निर्देश किया । इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहा पर इतर भारतीय दर्शनो के विचारो के साथ कुछ तुलना करना योग्य लगता है ।

(क) जैन दर्शन जगत को मायावादी की भाँति मात्र आभासरूप या मात्र काल्पनिक नही मानता, परन्तु वह जगत को सत् मानता है । ऐसा होने पर भी जैनदर्शनसम्मत सत्-तत्त्व चार्वाक के जैसा केवल जड अर्थात् सहज चैतन्यरहित नही है । इसी प्रकार जैनदर्शनसम्मत सत्-तत्त्व शाकर वेदान्त के जैसा केवल चैतन्यमात्र भी नही है, परन्तु जिस प्रकार साख्य, योग, न्याय, वैशेपिक, पूर्वमीमासा और बौद्ध दर्शन सत्-तत्त्व को सर्वथा स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न जड एव चेतन इन दो विभागो मे बाटते है, इसी प्रकार जैन दर्शन भी सत्-तत्त्व की अनादिसिद्ध जड एव चेतन इन दो प्रकृतियों का स्वीकार करता है, जो देश एव काल के प्रवाह मे साथ रहने पर भी मूलत सर्वथा स्वतन्त्र है । न्याय, वैशेपिक और योग दर्शन आदि ऐसा मानते हैं कि इस जगत का विशिष्ट कार्यस्वरूप चाहे जड और चेतन इन दो पदार्थों पर से निर्मित होता हो, परन्तु उस कार्य के पीछे कोई अनादि-सिद्ध समर्थ चेतनशक्ति का हाथ होता है, उस ईश्वरीय हाथ के सिवा ऐसा अद्भुत कार्य सम्भव नही, परन्तु जैन दर्शन वैसा नही मानता । वह प्राचीन साख्य, पूर्वमीमासक और बौद्ध आदि की भाँति मानता है कि जड एव चेतन ये दोनो सत्-प्रवाह स्वयमेव, किसी तीसरी विशिष्ट शक्ति की सहायता के बिना ही, बहते रहते हैं, और इसीलिए वह जगत की उत्पत्ति या उसकी व्यवस्था के लिए ईश्वर जैसे किसी स्वतन्त्र एव अनादिसिद्ध व्यक्ति को मानने से इन्कार करता है । यद्यपि जैन दर्शन न्याय, वैशेपिक, बौद्ध आदि की तरह जड सत्-तत्त्व को अनादिसिद्ध अनन्त व्यक्तिरूप मानता है और साख्य की तरह एक व्यक्तिरूप नही मानता, फिर भी वह साख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनन्त परमाणु नामक जड सत्-तत्त्वो मे स्थान देता है ।

इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार जगत का परिवर्तन प्रवाह अपने आप ही प्रवाहित होता है तथापि जैन दर्शन इतना तो स्पष्ट करता है कि विश्व मे जो घटनाए किसी की बुद्धि एव प्रयत्न पर आधारित दिखती है उन घटनाओ के पीछे ईश्वर का नही किन्तु उन घटनाओ के परिणाम मे भाग लेनेवाले ससारी जीव का हाथ है अर्थात् ऐसी घटनाएँ ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से किसी ससारी जीव के बुद्धि एव प्रयत्न पर अवलम्बित होती है। इस बारे मे प्राचीन साख्य एव बौद्ध दर्शन के विचार जैन दर्शन जैसे ही है।

वेदान्त दर्शन की भाँति जैन दर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखण्ड नही मानता परन्तु साख्य योग न्याय वैशेषिक एव बौद्ध की भाँति वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। ऐसा होने पर भी उनके साथ भी जैन दर्शन का थोडा मतभेद है और वह यह कि जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यता की तरह केवल परिवर्तन-प्रवाह नही है तथा साख्य-न्याय आदि की तरह मात्र कूटस्थ भी नही है किन्तु जैन दर्शन कहता है कि मूल मे सचेतन तत्त्व ध्रुव अर्थात् अनादि-अनन्त होने पर भी देश-काल के प्रभाव से वह विमुक्त नही रह सकता। इस प्रकार जैन मत के अनुसार जीव भी जड की भाँति परिणामिनित्य है। जैन दर्शन ईश्वर जैसे किसी व्यक्ति को सर्वथा स्वतन्त्ररूप से नही मानता और फिर भी ईश्वर के समग्र गुण वह जीवमात्र मे स्वीकार करता है। इससे जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव मे ईश्वर की शक्ति है फिर भले ही वह आवरण से दबी हो परन्तु यदि जीव योग्य दिशा मे प्रयत्न करे तो वह अपने मे रही हुई ईश्वरीय शक्ति को पूर्ण रूप से विकसित कर स्वय ही ईश्वर बन सकता है। इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार ईश्वर तत्त्व को अलग स्थान न होने पर भी उसमे ईश्वरतत्त्व की मान्यता को स्थान है और उसकी उपासना का भी वह स्वीकार करता है। जो-जो जीवात्मा कर्मवासनाओ से पूर्णत मुक्त हुए है वे सभी समानभाव से ईश्वर है। उनका आदर्श सम्मुख रख-कर अपने मे रही हुई वैसी पूर्ण शक्ति का प्राकट्य ही जैन उपासना का ध्येय है। शाकर वेदान्त जैसे मानता है कि जीव स्वय ही ब्रह्म है वैसे ही जैन दर्शन कहता है कि जीव स्वय ही ईश्वर या परमात्मा है। वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत है और अविद्या के

दूर होने पर वह अनुभव मे आता है, ठीक वैसे ही जैन दर्शन के अनुसार जीव का परमात्मभाव आवृत है और इस आवरण के दूर होने पर वह पूर्ण रूप मे अनुभव मे आता है। इस बारे मे वस्तुत वेदान्त और जैन के बीच व्यक्तिबहुत्व के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नही है।

(ख) जैन शास्त्र मे जो सात तत्त्व कहे हैं उनमे से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वो के बारे मे ऊपर तुलना की। अब अवशिष्ट पाँच मे से वस्तुत चार[1] तत्त्व ही रहते हैं। इन चार तत्त्वो का सम्बन्ध जीवन-शोधन अथवा आध्यात्मिक विकासक्रम के साथ है, अत इन्हें चारित्रीय तत्त्व भी कह सकते हैं। वे चार तत्त्व हैं बन्ध, आस्रव, संवर और मोक्ष। इन चार तत्त्वो का बौद्ध शास्त्रो मे अनुक्रम से दुःख, दुःखहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण इन चार आर्यसत्यो के रूप मे वर्णन मिलता है। सांख्य एव योगशास्त्र मे इन्ही का हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान कहकर चतुर्व्यूह के नाम से वर्णन पाया जाता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन मे यही बात संसार, मिथ्याज्ञान, सम्यक्ज्ञान और अपवर्ग के नाम से कही है। वेदान्त दर्शन मे संसार, अविद्या, ब्रह्मसाक्षात्कार और ब्रह्मभाव के नाम से यही बात दिखलाई गई है।

जैन दर्शन मे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की तीन संक्षिप्त भूमिकाओ का तनिक विस्तार से चौदह भूमिकाओ के रूप मे वर्णन पाया जाता है, जो जैन परम्परा मे गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। योगवासिष्ठ जैसे वेदान्त के ग्रन्थो मे भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की इस प्रकार कुल चौदह आत्मिक भूमिकाओ का वर्णन आता है। सांख्य-योग दर्शन की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाच चित्त-भूमिकाएँ भी इन्ही चौदह भूमिकाओ का संक्षिप्त वर्गीकरण मात्र है। बौद्ध दर्शन मे भी इसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि छ भूमिकाओ मे विभक्त करके वर्णन आता है। इस प्रकार हम सभी भारतीय दर्शनों मे संसार से मोक्ष पर्यन्त की स्थिति, उसके क्रम और उसके कारणो के विषय मे

---

१ निर्जरा तत्त्व की परिगणना यहाँ नही की है। आंशिक कर्मक्षय निर्जरा है और सर्वांशत कर्मक्षय मोक्ष है।—संपादक

स्वरूप एक सा और एक विचार देगा ? तब प्रश्न उठता है कि उन सभी दर्शनों के विचार में भिन्नता क्यों दिखती है तथा पन्थ-पन्थ के बीच सभी में फिर भी इतना अधिक भेद क्यों दिखता है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पन्थों की भिन्नता के मुख्य दो कारण हैं : तत्त्वज्ञान की भिन्नता तथा बाह्य आचार-व्यवहार की भिन्नता। कई पन्थ ऐसे हैं जिनके बीच बाह्य आचार-व्यवहार की भिन्नता के अतिरिक्त तत्त्व-ज्ञान की विचारसरणी में भी अमुक भेद है, जैसे कि वेदान्त, बौद्ध और जैन आदि पन्थ। कई पन्थ या उनकी शाखाएँ ऐसी भी हैं जिनकी तत्त्व-ज्ञान-विषयक विचारसरणी में खास भेद नहीं होता, उनका भेद मुख्य रूप से बाह्य आचार के आधार पर पैदा होता है और पोषित होता है, उदाहरणार्थ जैन दर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीन शाखाओं को इस वर्ग में गिनाया जा सकता है।

आत्मा को कोई एक माने या अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या न माने इत्यादि तात्त्विक विचारणा का भेद बुद्धि के तरतमभाव पर आधारित है और ऐसा तरतमभाव अनिवार्य है। इसी प्रकार बाह्य आचार एवं नियमों के भेद बुद्धि, रुचि तथा परिस्थिति के भेद में से पैदा होते हैं। कोई काशी जाकर गंगास्नान और विश्वनाथ के दर्शन में पवित्रता माने, कोई बुद्ध-गया और सारनाथ में जाकर बुद्ध के दर्शन में कृतार्थता माने, कोई शत्रुंजय के दर्शन में सफलता माने, कोई मक्का अथवा जेरुसलम जाकर धन्यता समझे। इसी प्रकार कोई एकादशी के व्रत उपवास को अतिपवित्र माने, कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व दे। कोई तप ऊपर अधिक भार न देकर दान पर भार दे, तो दूसरा कोई तप ऊपर ही अधिक भार दे। इस प्रकार परम्परागत भिन्न-भिन्न संस्कारों का पोषण और रुचि-भेद का मानसिक वातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार और प्रवृत्ति का भेद कभी मिटेगा नहीं। भेद की उत्पत्ति एवं पोषक इतनी अधिक बातों के होने पर भी सत्य एक ऐसा पदार्थ है जो वास्तव में खण्डित होता ही नहीं है। इसीलिए हम सम्पूर्ण आध्यात्मिक विचारधारा की तुलना में देखते हैं कि भिन्नत्वलक्षी भाषा और रूप चाहे जो हो परन्तु जीवन का सत्य एक समान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञों के अनुभव में प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य पूर्ण करने से पूर्व जैन दर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओ का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुद्दो की चर्चा पर ही समग्र जैन साहित्य का निर्माण हुआ है। जैन आचार और सम्प्रदाय की विशेषता इन दो मुद्दो द्वारा ही स्पष्ट की जा सकती है। सत्य वस्तुत एक ही होता है, परन्तु मनुष्य की दृष्टि उसे एक रूप मे ग्रहण नही कर सकती।। अत सत्य के दर्शन के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि-मर्यादा विकसित करे और उसमे सत्यग्रहण की यथासम्भव सभी रीतियो को स्थान दे। इस उदात्त और विशाल भावना मे से अनेकान्त की विचारसरणी का जन्म हुआ है। इस सरणी का आयोजन वादविवाद मे जय प्राप्त करने के लिए अथवा वितण्डावाद के दावपेच खेलने के लिए अथवा तो शब्दच्छल की चालाकी का खेल खेलने के लिए नही हुआ है, परन्तु इसका आयोजन तो जीवन-शोधन के एक भाग के रूप मे विवेकशक्ति को विकसित करने और सत्य की दिशा मे आगे बढने के लिए हुआ है। इससे अनेकान्त-विचारसरणी का सही अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य मे रखकर उसके सभी अशो और भागो को एक विशाल मानस-वर्तुल मे योग्य स्थान देना।

जैसे-जैसे मनुष्य की विवेकशक्ति बढती जाती है वैसे वैसे उसकी दृष्टि-मर्यादा बढने के कारण उसे अपने भीतर रही हुई सकुचितताओ और वासनाओ के दबाव का सामना करना पडता है। जब तक मनुष्य सकुचितता और वासनाओ का सामना न करे तब तक वह अपने जीवन मे अनेकान्त के विचारो को वास्तविक रूप से स्थान दे ही नही सकता। इसीलिए अनेकान्त के विचार की रक्षा एव वृद्धि के प्रश्न से ही अहिंसा का प्रश्न पैदा होता है। जैन अहिंसा सिर्फ चुपचाप बैठे रहने मे या धन्धे-रोजगार का त्याग करने मे या ठूठ-सी निश्चेष्ट स्थिति साधने मे परिसमाप्त नही होती, परन्तु वह अहिंसा सच्चे आत्मिक बल की अपेक्षा रखती है। किसी भी विकार के पैदा होने पर, किसी भी वासना के झाँकने पर अथवा किसी भी सकुचितता के मन में आने पर जैन अहिंसा कहती है कि तू इन विकारो, इन वासनाओ और इन सकुचितताओ से मत आहत हो, मत हार, दब नही। तू उनका सामना कर और उन विरोधी बलो को पराजित कर। आध्या-

त्मिक जय का यह प्रयत्न ही मुख्य जैन अहिंसा है। इसे संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो अथवा कोई भी वैसा आध्यात्मिक नाम दो, परन्तु वह वस्तुतः अहिंसा ही है। और जैन दर्शन कहता है कि अहिंसा केवल स्थूल आचार नहीं है, परन्तु वह शुद्ध विचार के परिपाकस्वरूप आया हुआ जीवनोत्कर्षक आचार है।

ऊपर कहे गये अहिंसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप में से उत्पन्न किसी भी बाह्याचार को अथवा उस सूक्ष्म रूप की पुष्टि के लिए निर्मित किसी भी आचार को जैन तत्त्वज्ञान में अहिंसा के रूप में स्थान है। इसके विपरीत ऊपर-ऊपर से अहिंसामय दिखाई देनेवाले चाहे जिस आचार अथवा व्यवहार के मूल में यदि उपर्युक्त अहिंसा का आन्तरिक तत्त्व विद्यमान न हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिंसा है अथवा अहिंसा का पोषक है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यहाँ जैन तत्त्वज्ञान-विषयक विचार में प्रमेयचर्चा का खास-तौर पर विस्तार नहीं किया, सिर्फ तद्विषयक जैन विचारसरणी का इशारा ही किया है। आचार के बारे में भी बाह्य नियमों और उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में खास-तौर पर चर्चा नहीं की है, परन्तु आचार के मूल तत्त्वों की जीवन-शोधन की दृष्टि से तात्त्विक चर्चा की है जिन्हें जैन परिभाषा में आस्रव संवर आदि तत्त्व कहते हैं।

(द० औ० चि० भा० २, पृ० १०४-१११)

६.

आध्यात्मिक विकासक्रम

मोक्ष यानी आध्यात्मिक विकास की पूर्णता। ऐसी पूर्णता अचानक प्राप्त नहीं हो सकती, उसे प्राप्त करने में अमुक समय व्यतीत करना पड़ता है। इसीलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम मानना पड़ता है। तत्त्वजिज्ञासुओं के हृदय में स्वाभाविक रूप से ऐसा प्रश्न उठता है कि इस आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम कैसा है?

आत्मा की तीन अवस्थाएँ

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के क्रम के विचार के साथ ही उसके आरम्भ का तथा समाप्ति का विचार आता है। उसका आरम्भ उसकी पूर्वसीमा और उसकी समाप्ति उसकी उत्तरसीमा है। पूर्वसीमा से लेकर उत्तरसीमा तक का विकास का वृद्धिक्रम ही आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रम की मर्यादा है। उसके पूर्व की स्थिति आध्यात्मिक अविकास अथवा प्राथमिक संसार-दशा है और उसके बाद की स्थिति मोक्ष अथवा आध्यात्मिक विकासक्रम की पूर्णता है। इस प्रकार काल की दृष्टि से संक्षेप में आत्मा की अवस्था तीन भागों में विभक्त हो जाती है (अ) आध्यात्मिक अविकास, (ब) आध्यात्मिक विकासक्रम, (स) मोक्ष।

(अ) आत्मा स्थायी सुख और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहती है तथा दुःख एवं अज्ञान उसे तनिक भी पसन्द नहीं, फिर भी वह दुःख और अज्ञान के भँवर में पड़ी हुई है इसका क्या कारण? यह एक गूढ़ प्रश्न है। परन्तु इसका उत्तर तत्त्वज्ञों को प्राप्त हुआ है। वह यह कि 'सुख एवं ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक वृत्ति के कारण आत्मा का पूर्णानन्द और पूर्णज्ञानमय स्वरूप सिद्ध होता है, क्योंकि पूर्णानन्द और पूर्णज्ञान जब तक प्राप्त न करे तब तक वह सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकती, और फिर भी उस पर अज्ञान

और रागद्वेष के ऐसे प्रबल संस्कार जम गए हैं कि उनके कारण उसे सच्चे सुख का भान नहीं हो सकता और कुछ भान होता है तो भी वह सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति नहीं कर सकती। अज्ञान चेतना के स्फुरण का विरोधी तत्त्व है। अतः जब तक अज्ञान की तीव्रता रहती है तब तक चेतना का स्फुरण अत्यन्त मन्द होता है। इसकी वजह से सच्चे सुख और सच्चे सुख के साधन का भान ही नहीं होने पाता। इस कारण आत्मा स्वयं एक विषय में सुख मानने की धारणा से प्रवृत्ति करती है और उसमें निराश होने पर दूसरे विषय की ओर मुड़ती है। दूसरे विषय में निराश होने पर वह तीसरे विषय की ओर दौड़ती है। इस प्रकार उसकी स्थिति भँवर में पड़ी लकड़ी जैसी अथवा आँधी से उड़ते तिनके जैसी होती है। ऐसी कष्ट-परंपरा का अनुभव करते-करते थोड़ा-सा अज्ञान दूर होता है तो भी रागद्वेष की तीव्रता के कारण सुख की सही दिशा में प्रयाण नहीं होता। अज्ञान की कुछ मन्दता से कई बार ऐसा भान होता है कि सुख और दुःख के बीज बाह्य जगत् में नहीं हैं फिर भी रागद्वेष की तीव्रता के परिणाम स्वरूप पूर्वपरिचित विषयों को ही सुख और दुःख के साधन मानकर उनके हर्ष एवं विषाद का अनुभव हुआ करता है। यह स्थिति निश्चित लक्ष्यहीन होने से दिशा का सुनिश्चय किये बिना जहाज चलानेवाले माँझी की स्थिति जैसी होती है। यह स्थिति आध्यात्मिक अविकास काल की है।

(ख) अज्ञान एवं रागद्वेष के चक्र का बल भी सदा जैसा का तैसा नहीं रह सकता क्योंकि वह बल चाहे जितना प्रबल क्यों न हो तो भी आखिरकार आत्मिक बल के सामने तो अल्प है। लाखों मन घास और लकड़ी को जलाने के लिए उतनी ही आग की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिए तो आग की एक चिनगारी भी काफी है। शुभ मात्रा में थोड़ा हो तो भी आत्मा शुभ अशुभ की अपेक्षा अधिक बलवान होता है। जब आत्मा में चेतना का स्फुरण कुछ बढ़ता है और रागद्वेष के साथ होनेवाले आत्मा के युद्ध में जब रागद्वेष की शक्ति कम होती है तब आत्मा का वीर्य जो अब तक उल्टी दिशा में कार्य करता था सही दिशा की ओर मुड़ता है। उसी समय आत्मा अपने ध्येय का निश्चय करके उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करती है और उसके लिए प्रवृत्ति करने लगती है। इस समय

आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ हो जाता है। इसके पश्चात् आत्मा अपनी ज्ञान एव वीर्यशक्ति की सहायता लेकर अज्ञान और रागद्वेष के साथ कुश्ती करने के लिए अखाड़े मे उतरती है। वह कभी हारती भी है, परन्तु अन्त मे उस हार के परिणामस्वरूप बढ़ी हुई ज्ञान एव वीर्यशक्ति को लेकर हरानेवाले अज्ञान और रागद्वेष को दबाती जाती है। जैसे-जैसे वह दबाती है वैसे-वैसे उसका उत्साह बढ़ता है। उत्साहवृद्धि के साथ ही एक अपूर्व आनन्द की लहर बहने लगती है। इस आनन्द की लहर मे आनखशिख डूबी आत्मा अज्ञान एव रागद्वेष के चक्र को अधिकाधिक निर्बल करती हुई अपनी सहज स्थिति की ओर आगे बढ़ती जाती है। यह स्थिति आध्यात्मिक विकासक्रम की है।

(क) इस स्थिति की अन्तिम मर्यादा ही विकास की पूर्णता है। इस पूर्णता के प्राप्त होने पर ससार मे पर स्थिति प्राप्त होती है। उसमे केवल स्वाभाविक आनन्द का ही साम्राज्य होता है। वह है मोक्षकाल।

चौदह गुणस्थान और उनका विवरण

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ, जो आगम के नाम से प्रसिद्ध है, उनमें भी आध्यात्मिक विकास के क्रम से सम्बन्ध रखनेवाले विचार व्यवस्थित रूप से उपलब्ध होते हैं। उनमे आत्मिक स्थिति के चौदह विभाग किये गये हैं, जो गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं।

गुणस्थान

गुण यानी आत्मा की चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य आदि शक्तियाँ। स्थान यानी उन शक्तियो की शुद्धता की तरतमभाववाली अवस्थाएँ। आत्मा के सहज गुण विविध आवरणो से ससारदशा मे आवृत है। आवरणो की विरलता या क्षय का परिमाण जितना विशेष उतनी गुणो की वृद्धि विशेष, और आवरणो की विरलता या क्षय का परिमाण जितना कम उतनी गुणो की वृद्धि कम। इस प्रकार आत्मिक गुणो की शुद्धि के प्रकर्ष या अपकर्षवाले असख्यात प्रकार सम्भव हैं, परन्तु सक्षेप मे उनको चौदह भागों मे बाँटा गया है। वे गुणस्थान कहलाते है। गुणस्थान की कल्पना मुख्य

क्रम से मोहनीय कर्म की विरलता एवं क्षय के आधार पर की गई है। मोहनीय कर्म की मुख्य दो शक्तियाँ हैं। पहली शक्ति का कार्य आत्मा के सम्यक्त्व गुण को आवृत करने का है जिससे कि आत्मा में तात्त्विक रुचि अथवा सत्यदर्शन नहीं होने पाता। दूसरी शक्ति का कार्य आत्मा के चारित्र गुण को आवृत करने का है जिससे आत्मा तात्त्विक रुचि या सत्यदर्शन के होने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति करके स्वरूपलाभ प्राप्त नहीं कर सकती। सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक मोहनीय की प्रथम शक्ति दर्शनमोहनीय और चारित्र की प्रतिबन्धक मोहनीय की दूसरी शक्ति चारित्रमोहनीय कहलाती है। इन दोनों में दर्शनमोहनीय प्रबल है क्योंकि जब तक उसकी विरलता या क्षय न हो तब तक चारित्र मोहनीय का बल कम नहीं होता। दर्शनमोहनीय का बल घटने पर चारित्रमोहनीय क्रमशः निर्बल होकर अन्त में सर्वथा क्षीण हो ही जाता है। समस्त कर्मावरणों में प्रधानतम और बलवत्तम मोहनीय ही है। इसका कारण यह है कि जब तक मोहनीय की शक्ति तीव्र होती है तब तक अन्य आवरण भी तीव्र ही रहते हैं और उसकी शक्ति कम होते ही अन्य आवरणों का बल मन्द होता जाता है। इसी कारण गुणस्थानों की कल्पना मोहनीय कर्म के तरतमभाव के आधार पर की गई है।

ये गुणस्थान ये हैं—(१) मिथ्यादृष्टि (२) सास्वादन (३) सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (४) अविरतसम्यग्दृष्टि, (५) देशविरति (विरताविरत) (६) प्रमत्तसंयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर) ( ) अनिवृत्तिबादर, (१) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह (१) क्षीणमोह (१३) सयोगिकेवली (१४) अयोग केवली।

(१) जिस अवस्था में दर्शनमोहनीय की प्रबलता के कारण सम्यक्त्व गुण आवृत होने से आत्मा की तत्त्वरुचि ही प्रकट नहीं हो सकती और जिससे उसकी दृष्टि मिथ्या (सत्य विरुद्ध) होती है वह अवस्था मिथ्यादृष्टि है।

( ) ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान पर पहुँचने तक बीच में बहुत ही थोड़े समय की जो अवस्था प्राप्त होती है वह सास्वादन

---

१ देखो समवायांग १४ वाँ समवाय।

अवस्था है। इसका सास्वादन नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें पतनोन्मुख आत्मा में तत्त्वरुचि का स्वल्प भी आस्वाद होता है जैसे कि मिष्टान्न के भोजन के अनन्तर उल्टी होने पर एक विलक्षण स्वाद होता है। यह दूसरा गुणस्थान पतनोन्मुख आत्मा की ही स्थिति है।

(३) झूला झूलनेवाले मनुष्य की भाँति जिस अवस्था में आत्मा दोलायमान होती है जिसके कारण वह सर्वथा सत्यदर्शन भी नहीं कर सकती अथवा सर्वथा मिथ्यादृष्टि की स्थिति में भी नहीं रह सकती अर्थात् उसकी संशयालु-सी स्थिति हो जाती है उस अवस्था को सम्यक् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का विष पहले जैसा तीव्र नहीं रहता, परन्तु होता है तो अवश्य।

(४) जिस अवस्था में दर्शनमोहनीय का बल या तो बिलकुल दब जाता है अथवा विरल हो जाता है, या फिर बिल्कुल क्षीण हो जाता है, जिसके कारण आत्मा असन्दिग्ध रूप में सत्यदर्शन कर सकती है, वह अवस्था अविरतसम्यग्दृष्टि है। इसका अविरत नाम इसलिए है कि इसमें चारित्र-मोहनीय की सत्ता सविशेष होने से विरति (त्यागवृत्ति) का उदय नहीं हो पाता।

(५) जिस अवस्था में सत्यदर्शन के अलावा अल्पांश में भी त्याग-वृत्ति का उदय होता है वह देशविरति है। इसमें चारित्रमोहनीय की सत्ता अवश्य कम होती है और कमी के अनुपात में त्यागवृत्ति होती है।

(६) जिस अवस्था में त्यागवृत्ति पूर्ण रूप में उदित होती है, परन्तु बीच-बीच में प्रमाद (स्खलन) की सम्भावना रहती है वह प्रमत्तसंयत अवस्था है।

(७) जिसमें प्रमाद की तनिक भी शक्यता नहीं होती वह अप्रमत्त-संयत अवस्था है।

(८) जिस अवस्था में पहले कभी अनुभव न किया हो ऐसी आत्म-शुद्धि का अनुभव होता है और अपूर्व वीर्योल्लास—आत्मिक सामर्थ्य—प्रकट होता है वह अवस्था अपूर्वकरण है। इसका दूसरा नाम निवृत्ति बादर भी है।

(९) जिस अवस्था में चारित्रमोहनीय कर्म के शेष अंशों का उप-

शमन या क्षीण करने का काम होता है वह अवस्था अनिवृत्तिबादर है।

(१०) जिस अवस्था में मोहनीय का अंश लोभ के रूप में ही उदयमान होता है और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में, वह अवस्था सूक्ष्मसम्पराय है।

(११) जिस अवस्था में सूक्ष्म लोभ तक उपशान्त हो जाता है वह उपशान्तमोहनीय है। इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का सर्वथा क्षय सम्भव है परन्तु चारित्रमोहनीय का वैसा क्षय नहीं होता, केवल उसकी सर्वांशतः उपशान्ति होती है। इसके कारण ही मोह का पुनः उद्रेक होने पर इस गुणस्थान से अवश्य पतन होता है और प्रथम गुणस्थान तक जाना पड़ता है।

(१२) जिस अवस्था में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाता है वह क्षीणमोहनीय है। इस स्थिति से पतन की सम्भावना ही नहीं रहती।

(१३) जिस अवस्था में मोह के आत्यन्तिक अभाव के कारण वीतरागता के प्राकट्य के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है वह अवस्था सयोग गुणस्थान है। इस गुणस्थान में शारीरिक, मानसिक और वाचिक व्यापार होते हैं। इससे इसे जीवन्मुक्ति कह सकते हैं।

(१४) जिस अवस्था में शारीरिक, मानसिक और वाचिक प्रवृत्तियों का भी अभाव हो जाता है वह अयोगगुणस्थान है। यह गुणस्थान अन्तिम है। अतः शरीरपात होते ही इसकी समाप्ति होती है और उसके पश्चात् गुणस्थानातीत विदेहमुक्ति प्राप्त होती है।[1]

प्रथम गुणस्थान अविकासकाल है। दूसरे और तीसरे इन दो गुणस्थानों में विकास का तनिक स्फुरण होता है परन्तु उसमें प्रबलता अविकास की ही होती है। चौथे से विकास क्रमशः बढ़ता-बढ़ता वह चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण कला पर पहुँचता है और उसके बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैन विचारसरणी का पृथक्करण इतना ही किया जा सकता है कि पहले के तीन गुणस्थान अविकासकाल के हैं और चौथे से चौदहवें तक के गुणस्थान विकास एवं उसकी वृद्धिकाल के हैं। इसके पश्चात् मोक्षकाल है।

---

१ देखो दूसरे कर्मग्रन्थ की मेरी प्रस्तावना तथा व्याख्या।

श्री हरिभद्रसूरि द्वारा दूसरे प्रकार से वर्णित विकासक्रम

इस प्राचीन जैन विचार का वर्णन हरिभद्रसूरि ने दूसरी रीति से भी किया है। उनके वर्णन में दो प्रकार पाये जाते हैं।

आठ दृष्टि का पहला प्रकार

पहले प्रकार में उन्होंने अविकास और विकासक्रम दोनों का समावेश किया है।[1] उन्होंने अविकासकाल को ओघदृष्टि और विकासक्रम को सद्दृष्टि संज्ञा दी है। सद्दृष्टि के मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये आठ विभाग किये हैं। इन आठ विभागों में विकास का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

दृष्टि अर्थात् दर्शन अथवा बोध। इसके दो प्रकार हैं। पहले में सत्-श्रद्धा (तात्त्विक रुचि का) अभाव होता है जबकि दूसरे में सत्-श्रद्धा होती है। पहला प्रकार ओघदृष्टि और दूसरा योगदृष्टि कहलाता है। पहले में आत्मा की वृत्ति संसारप्रवाह की ओर तथा दूसरे में आध्यात्मिक विकास की ओर होती है। इसीलिए योगदृष्टि सद्दृष्टि कही जाती है।

जैसे समेघ रात्रि, अमेघ रात्रि, समेघ दिवस और अमेघ दिवस में अनुक्रम से अतिमन्दतम, मन्दतम, मन्दतर और मन्द चाक्षुष ज्ञान होता है और उसमें भी ग्रहाविष्ट और ग्रहमुक्त पुरुष के भेद से, बाल और तरुण पुरुष के भेद से तथा विकृत नयनवाले और अविकृत नयनवाले पुरुष के भेद से चाक्षुष ज्ञान की अस्पष्टता या स्पष्टता तरतमभाव से होती है, वैसे ही ओघदृष्टि की दशा में संसारप्रवाह की ओर झुकाव होने पर भी आवरण के तरतमभाव से ज्ञान तारतम्यवाला होता है। यह ओघदृष्टि चाहे जैसी हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह असद्दृष्टि ही है। उसके पश्चात् जब से आध्यात्मिक विकास का आरम्भ होता है, फिर भले ही उसमें

---

१ देखो योगदृष्टिसमुच्चय।

२ इसकी विशेष जानकारी के लिए देखो 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' में व्याख्यान ५, पृ० ८० तथा विशेष रूप से पृ० ८५ से आगे।—सम्पादक

शमन या क्षीण करने का काम होता है वह अवस्था अनिवृत्तिबादर है।

(१०) जिस अवस्था में मोहनीय का अंश लोभ के रूप में ही उदयमान होता है और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में वह अवस्था सूक्ष्मसंपराय है।

(११) जिस अवस्था में सूक्ष्म लोभ तक उपशान्त हो जाता है वह उपशान्तमोहनीय है। इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का सर्वथा क्षय सम्भव है परन्तु चारित्रमोहनीय का वैसा क्षय नहीं होता केवल उसकी सर्वांशतः उपशान्ति होती है। इसके कारण ही मोह का पुनः उद्रेक होने पर इस गुणस्थान से अवश्य पतन होता है और प्रथम गुणस्थान तक आना पड़ता है।

(१२) जिस अवस्था में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाता है वह क्षीणमोहनीय है। इस स्थिति से पतन की सम्भावना ही नहीं रहती।

(१३) जिस अवस्था में मोह के आत्यन्तिक अभाव के कारण वीतरागदशा के प्राकट्य के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है वह अवस्था सयोगगुणस्थान है। इस गुणस्थान में शारीरिक, मानसिक और वाचिक व्यापार होते हैं। इसको ही जीवन्मुक्ति कह सकते हैं।

(१४) जिस अवस्था में शारीरिक, मानसिक और वाचिक प्रवृत्तियों का भी अभाव हो जाता है वह अयोगगुणस्थान है। यह गुणस्थान अन्तिम है। अतः शरीरपात होते ही इसकी समाप्ति होती है और उसके पश्चात् गुणस्थानातीत विदेहमुक्ति प्राप्त होती है।

प्रथम गुणस्थान अविकासकाल है। दूसरे और तीसरे इन दो गुणस्थानों में विकास का तनिक स्फुरण होता है परन्तु उसमें प्रबलता अविकास की ही होती है। चौथे से विकास क्रमशः बढ़ता-बढ़ता हुआ चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण कक्षा पर पहुँचता है और उसके बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैन विचारसरणी का पृथक्करण इतना ही किया जा सकता है कि पहले के तीन गुणस्थान अविकासकाल के हैं और चौथे से चौदहवें तक के गुणस्थान विकास एवं उसकी वृद्धि के हैं। उसके पश्चात् मोक्षकाल है।

---

१ देखो दूसरे कर्मग्रन्थ की मेरी प्रस्तावना तथा व्याख्या।

योग यानी जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सके वैसा धर्मव्यापार। अनादि कालचक्र मे जब तक आत्मा की प्रवृत्ति स्वरूप-पराङ्मुख होने से लक्ष्यभ्रष्ट होती है, उस समय तक की उसकी सारी क्रिया शुभाशय से रहित होने से योगकोटि मे नही आती। जब से उसकी प्रवृत्ति बदलकर स्वरूपोन्मुख होती है तभी से उसकी क्रिया मे शुभाशय का तत्त्व दाखिल होता है। वैसा शुभाशयवाला व्यापार धर्मव्यापार कहलाता है, और फलत मोक्षजनक होने से वह योग के नाम का पात्र बनता है। इस प्रकार आत्मा के अनादि ससारकाल के दो भाग हो जाते है एक अधार्मिक और दूसरा धार्मिक। अधार्मिक काल मे धर्म की प्रवत्ति हो तो भी वह धर्म के लिए नही होती, केवल लोकपक्ति (लोकरजन) के लिए होती है। अतएव वैसी प्रवत्ति धर्मकोटि मे गिनने योग्य नही है। धर्म के लिए धर्म की प्रवृत्ति धार्मिक काल मे ही शुरु होती है। इसीलिए वैसी प्रवृत्ति योग कहलाती है।[1]

योग के उन्होंने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षय ये पाँच भाग किये हैं।

(१) जब थोडे या अधिक त्याग के साथ शास्त्रीय तत्त्वचिन्तन होता है और मैत्री, करुणा आदि भावनाएँ विशेष सिद्ध हो जाती हैं तब वह स्थिति अध्यात्म कहलाती है।

(२) जब मन समाधिपूर्वक सतत अभ्यास करने से अध्यात्म द्वारा सविशेष पुष्ट होता है तब उसे भावना कहते हैं। भावना से अशुभ अभ्यास दूर होता है, शुभ अभ्यास की अनुकूलता बढती है और सुन्दर चित्त की वृद्धि होती है।

(३) जब चित्त केवल शुभ विषय का ही अवलम्बन लेता है और उससे स्थिर दीपक के जैसा प्रकाशमान हो वह सूक्ष्म बोधवाला बन जाता है तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान से चित्त प्रत्येक कार्य मे आत्माधीन हो जाता है, भाव निश्चल होता है और बन्धनो का विच्छेद होता है।

(४) अज्ञान के कारण इष्ट-अनिष्ट रूप से कल्पित वस्तुओ मे से

---

१ देखो योगबिन्दु।

बाह्य ज्ञान कम हो, तभी से सद्दृष्टि शुरू होती है, क्योंकि उस समय आत्मा की वृत्ति संसारोन्मुख न रहकर मोक्षोन्मुख हो जाती है।

इस सद्दृष्टि (योगदृष्टि) के विकास के तारतम्य के अनुसार, आठ भेद है। इन आठ भेदों में उत्तरोत्तर सविकल्प बोध अर्थात् जागृति होती है। पहली मित्रा नामक दृष्टि में बोध और वीर्य का बल तृणाग्नि की प्रभा जैसा होता है। दूसरी तारा दृष्टि में कण्डे की आग की प्रभा जैसा, तीसरी बला दृष्टि में लकड़ी की आग की प्रभा जैसा, चौथी दीप्रा दृष्टि में दीपक की प्रभा जैसा, पाँचवी स्थिरा दृष्टि में रत्न की प्रभा जैसा, छठी कान्ता दृष्टि में नक्षत्र की प्रभा जैसा, सातवीं प्रभा दृष्टि में सूर्य की प्रभा जैसा और आठवीं परा दृष्टि में चन्द्र की प्रभा जैसा होता है।

यद्यपि इनमें से पहली चार दृष्टियों में स्पष्ट रूप से बोध आत्मतत्त्व का संवेदन नहीं होता, केवल अन्तिम चार दृष्टियों में ही वैसा संवेदन होता है, तथापि पहली चार दृष्टियों की सद्दृष्टि में परिगणना करने का कारण यह है कि इस स्थिति में आने के बाद आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का मार्ग निश्चित हो जाता है। योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अंगों के आधार पर सद्दृष्टि के आठ विभाग समझने चाहिए। पहली दृष्टि में यम की स्थिरता, दूसरी में नियम की—इस प्रकार अनुक्रम से आठवीं में समाधि की स्थिरता मुख्य रूप से होती है।

पहली मित्रा आदि चार दृष्टियों में आध्यात्मिक विकास होता तो है, पर उनमें कुछ अज्ञान और मोह का प्राबल्य रहता है, जब कि स्थिरा आदि बाद की चार दृष्टियों में ज्ञान एवं निर्मोहता का प्राबल्य बढ़ता जाता है।

योग के बीच आवश्यक दूसरा प्रकार

दूसरे प्रकार के वर्णन में उन आचार्य ने केवल आध्यात्मिक विकास के क्रम का ही योग के रूप में वर्णन किया है, उससे पूर्व की स्थिति का वर्णन नहीं किया।

---

१ देखो योगबिन्दु।

योग यानी जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सके वैसा धर्मव्यापार। अनादि कालचक्र मे जब तक आत्मा की प्रवृत्ति स्वरूप-पराङमुख होने से लक्ष्यभ्रष्ट होती है, उस समय तक की उसकी सारी क्रिया शुभाशय से रहित होने से योगकोटि मे नही आती। जब से उसकी प्रवृत्ति बदलकर स्वरूपोन्मुख होती है तभी से उसकी क्रिया मे शुभाशय का तत्त्व दाखिल होता है। वैसा शुभाशयवाला व्यापार धर्मव्यापार कहलाता है, और फलत मोक्षजनक होने से वह योग के नाम का पात्र बनता है। इस प्रकार आत्मा के अनादि ससारकाल के दो भाग हो जाते हैं एक अधार्मिक और दूसरा धार्मिक। अधार्मिक काल मे धर्म की प्रवत्ति हो तो भी वह धर्म के लिए नही होती, केवल लोकपक्ति (लोकरजन) के लिए होती है। अतएव वैसी प्रवत्ति धर्मकोटि मे गिनने योग्य नही है। धर्म के लिए धर्म की प्रवृत्ति धार्मिक काल मे ही शुरू होती है। इसीलिए वैसी प्रवृत्ति योग कहलाती है।[1]

योग के उन्होंने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षय ये पाँच भाग किये हैं।

(१) जब थोडे या अधिक त्याग के साथ शास्त्रीय तत्त्वचिन्तन होता है और मैत्री, करुणा आदि भावनाएँ विशेष सिद्ध हो जाती हैं तब वह स्थिति अध्यात्म कहलाती है।

(२) जब मन समाधिपूर्वक सतत अभ्यास करने से अध्यात्म द्वारा सविशेष पुष्ट होता है तब उसे भावना कहते हैं। भावना से अशुभ अभ्यास दूर होता है, शुभ अभ्यास की अनुकूलता बढती है और सुन्दर चित्त की वृद्धि होती है।

(३) जब चित्त केवल शुभ विषय का ही अवलम्बन लेता है और उससे स्थिर दीपक के जैसा प्रकाशमान हो वह सूक्ष्म बोधवाला बन जाता है तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान से चित्त प्रत्येक कार्य मे आत्माधीन हो जाता है, भाव निश्चल होता है और बन्धनो का विच्छेद होता है।

(४) अज्ञान के कारण इष्ट-अनिष्ट रूप से कल्पित वस्तुओ मे से

---

१ देखो योगबिन्दु।

जब विवेक के द्वारा इष्ट-अनिष्टत्व की भावना नष्ट हो जाती है तब वही स्थिति समता कहलाती है।

( ) वासना के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाली वृत्तियों का निर्मूल निरोध वृत्तिसंक्षय है।

ये दोनों प्रकार के वचन प्राचीन जैन गुणस्थानक के विचारों का नवीन पद्धति से किया गया वर्णनमात्र है।

(द अ वि भा २ पृ १ ११ १ १४ १ १७-१ २१)

७

अहिंसा

अहिंसा का सिद्धांत आर्य परम्परा में बहुत ही प्राचीन है और उसका आदर सभी आर्यशाखाओं में एक-सा रहा है। फिर भी प्रजाजीवन के विस्तार के साथ-साथ तथा विभिन्न धार्मिक परंपराओं के विकास के साथ-साथ, उस सिद्धांत के विचार तथा व्यवहार में भी अनेकमुखी विकास हुआ देखा जाता है। अहिंसा-विषयक विचार के मुख्य दो स्रोत प्राचीन काल से ही आर्य परम्परा में बहने लगे ऐसा जान पड़ता है। एक स्रोत तो मुख्यतया श्रमण जीवन के आश्रय से बहने लगा, जब कि दूसरा स्रोत ब्राह्मण परंपरा—चतुर्विध आश्रम—के जीवन-विचार के सहारे प्रवाहित हुआ। अहिंसा के तात्त्विक विचार में उक्त दोनों स्रोतों में कोई मतभेद देखा नहीं जाता। पर उसके व्यावहारिक पहलू या जीवनगत उपयोग के बारे में उक्त दो स्रोतों में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक श्रमण एवं ब्राह्मण स्रोत की छोटी-बड़ी अवान्तर शाखाओं में भी, नाना प्रकार के मतभेद तथा आपसी विरोध देखे जाते हैं। उसका प्रधान कारण जीवनदृष्टि का भेद है। श्रमण परंपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया वैयक्तिक और आध्यात्मिक रही है, जब कि ब्राह्मण परम्परा की जीवनदृष्टि प्रधानतया सामाजिक या लोकसंग्राहक रही है। पहली में लोकसंग्रह तभी तक इष्ट है जब तक वह आध्यात्मिकता का विरोधी न हो। जहाँ उसका आध्यात्मिकता से विरोध दिखाई दिया वहाँ पहली दृष्टि लोकसंग्रह की ओर उदासीन रहेगी या उसका विरोध करेगी। जब कि दूसरी दृष्टि में लोकसंग्रह इतने विशाल पैमाने पर किया गया है कि जिससे उसमें आध्यात्मिकता और भौतिकता परस्पर टकराने नहीं पाती।

आगमों में अहिंसा का निरूपण

श्रमण परंपरा की अहिंसा संबंधी विचारधारा का एक प्रवाह अपने

विशिष्ट रूप से बढ़ता था और क्रमशः आगे जाकर दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर के जीवन में उदात्त रूप में व्यक्त हुआ। हम उस प्रकटीकरण को 'आचारांग' 'सूत्रकृतांग' आदि प्राचीन जैन आगमों में स्पष्ट देखते हैं। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा तो आत्मौपम्य की दृष्टि में से ही हुई थी, पर उक्त आगमों में उसका निरूपण और विश्लेषण इस प्रकार हुआ है—

(१) दुःख और भय का कारण होने से हिंसामात्र वर्ज्य है, यह अहिंसा सिद्धान्त की उपपत्ति।

(२) हिंसा का अर्थ यद्यपि प्राणनाश करना या दुःख देना है, तथापि हिंसाजन्य दोष का आधार तो मात्र प्रमाद अर्थात् रागद्वेषादि ही है। अगर प्रमाद या आसक्ति न हो तो केवल प्राणनाश हिंसा कोटि में आ नहीं सकता, यह अहिंसा का विश्लेषण।

(३) वध्य जीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि संपत्ति के तारतम्य के ऊपर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलंबित नहीं है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बलप्रयोग की न्यूनाधिकता के ऊपर अवलंबित है, ऐसा कोटिक्रम।

उपर्युक्त तीनों बातें भगवान् महावीर के विचार तथा आचार में से फलित होकर आगमों में ग्रथित हुई हैं। कोई एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह कैसा ही आध्यात्मिक क्यों न हो, पर वह संयमलक्षी जीवनधारण का भी प्रश्न सोचता है तब उसमें से उपर्युक्त विश्लेषण तथा कोटिक्रम अपने आप ही फलित हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कहना पड़ता है कि आगे के जैन वाङ्मय में अहिंसा के संबंध में जो विशेष ऊहापोह हुआ है उसका मूल आधार तो प्राचीन आगमों में प्रथम से ही रहा।

समूचे जैन वाङ्मय में पाए जानेवाले अहिंसा के ऊहापोह पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि जैन वाङ्मय का अहिंसा संबंधी ऊहापोह मुख्यतया चार बलों पर अवलंबित है। पहला तो यह कि वह प्रधानतया साधु जीवन का ही अतएव नवकोटिक—पूर्ण अहिंसा का ही विचार करता है। दूसरा यह कि वह ब्राह्मण परंपरा में विहित मानी जानेवाली और प्रतिष्ठित समझी जानेवाली यज्ञीय आदि अनेकविध हिंसाओं का विरोध करता है। तीसरा यह कि वह अन्य श्रमण परंपराओं के त्यागी

जीवन की अपेक्षा भी जैन श्रमण का त्यागी जीवन विशेष नियन्त्रित रखने का आग्रह रखता है। चौथा यह कि वह जैन परंपरा के ही अवान्तर फिरको मे उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक विरोध के प्रश्नो के निराकरण का भी प्रयत्न करता है।

नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा के पालन का आग्रह भी रखना और सयम या सद्गुणविकास की दृष्टि से जीवननिर्वाह का समर्थन भी करना—इस विरोध मे से हिंसा के द्रव्य, भाव आदि भेदो का ऊहापोह फलित हुआ और अन्त मे एक मात्र निश्चय सिद्धान्त यही स्थापित हुआ कि आखिर को प्रमाद ही हिंसा है। अप्रमत्त जीवनव्यवहार देखने मे हिंसात्मक हो तब भी वह वस्तुत अहिंसक ही है। जहाँ तक इस आखरी नतीजे का सबध है वहाँ तक श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि किसी भी जैन फिरके का इसमे थोडा भी मतभेद नही है। सब फिरको की विचारसरणी, परिभाषा और दलीले एक-सी है।[1]

वैदिक हिंसा का विरोध

वैदिक परपरा मे यज्ञ, अतिथि श्राद्ध आदि अनेक निमित्तो मे होने वाली जो हिंसा धार्मिक मानकर प्रतिष्ठित करार दी जाती थी उसका विरोध साख्य, बौद्ध और जैन परपरा ने एक-सा किया है, फिर भी आगे जाकर इस विरोध मे मुख्य भाग बौद्ध और जैन का ही रहा है। जैन वाङ्मयगत अहिंसा के ऊहापोह मे उक्त विरोध की गहरी छाप और प्रतिक्रिया भी है। पद-पद पर जैन साहित्य मे वैदिक हिंसा का खण्डन देखा जाता है। साथ ही जब वैदिक लोग जैनो के प्रति यह आशका करते है कि अगर धार्मिक हिंसा भी अकर्तव्य है, तो तुम जैन लोग अपनी समाज रचना में मन्दिरनिर्माण, देवपूजा आदि धार्मिक कृत्यो का समावेश अहिंसक रूप मे कैसे कर सकोगे इत्यादि। इस प्रश्न का खुलासा भी जैन वाङ्मय के अहिंसा सबधी ऊहापोह मे सविस्तर पाया जाता है।

जैन और बौद्धो के बीच विरोध का कारण

प्रमाद—मानसिक दोष ही मुख्यतया हिंसा है और उस दोष मे से

---

१ देखो 'ज्ञानबिन्दु' मे टिप्पण पृ० ७९ से।

नया विचार प्रकट किया। वह यह कि अगर अप्रमत्त भाव से कोई जीव-विराधना–हिंसा हो जाए या करनी पडे तो वह मात्र अहिंसाकोटि की अतएव निर्दोष ही नही है, बल्कि वह गुण (निर्जरा) वर्धक भी है। इस विचार के अनुसार, साधु पूर्ण अहिंसा का स्वीकार कर लेने के बाद भी अगर संयत जीवन की पुष्टि के निमित्त, विविध प्रकार की हिंसारूप समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करता है तो वह संयमविकास मे एक कदम आगे बढ़ता है। यही जैन परिभाषा के अनुसार निश्चय अहिंसा है। जो त्यागी बिलकुल वस्त्र आदि रखने के विरोधी थे वे मर्यादित रूप मे वस्त्र आदि उपकरण (साधन) रखनेवाले साधुओ को जब हिंसा के नाम पर कोसने लगे, तब वस्त्रादि के समर्थक त्यागियो ने उसी निश्चय सिद्धान्त का आश्रय लेकर जवाब दिया कि केवल संयम के धारण और निर्वाह के वास्ते ही, शरीर की तरह मर्यादित उपकरण आदि का रखना अहिंसा का बाधक नही। जैन साधुसंघ की इस प्रकार की पारस्परिक आचारभेदमूलक चर्चा के द्वारा भी अहिंसा के ऊहापोह मे बहुत-कुछ विकास देखा जाता है, जो ओघनिर्युक्ति आदि मे स्पष्ट है।

कभी-कभी अहिंसा की चर्चा शुष्क तर्क की-सी हुई जान पडती है। एक व्यक्ति प्रश्न करता है कि अगर वस्त्र रखना ही है तो वह बिना फाडे अखण्ड ही क्यो न रखा जाए, क्योंकि उसके फाडने से जो सूक्ष्म अणु उडेंगे वे जीवघातक जरूर होगे। इस प्रश्न का जवाब भी उसी ढंग से दिया गया है। जवाब देनेवाला कहता है कि अगर वस्त्र फाडने मे फैलनेवाले सूक्ष्म अणुओ के द्वारा जीवघात होता है, तो तुम जो हमे वस्त्र फाडने से रोकने के लिए कुछ कहते हो उसमे भी तो जीवघात होता है न ?—इत्यादि। अस्तु। जो कुछ हो, पर हम जिनभद्रगणि की स्पष्ट वाणी मे जैनपरंपरासंमत अहिंसा का पूर्ण स्वरूप पाते हैं। वे कहते है कि स्थान सजीव हो या निर्जीव, उनमे कोई जीव घातक हो जाता हो या कोई अघातक ही देखा जाता हो, पर इतने मात्र से हिंसा या अहिंसा का निर्णय नही हो सकता। हिंसा सचमुच प्रमाद—अयतना—असंयम मे ही है, फिर चाहे किसी जीव का घात न भी होता हो। इसी तरह अगर अप्रमाद या यतना—संयम सुरक्षित है, तो जीवघात दिखाई देने पर भी वस्तुत अहिंसा ही है।

वनित प्राण-नाश ही हिंसा है—यह विचार जैन और बौद्ध परंपरा में एक-सा मान्य है। फिर भी हम देखते हैं कि पुराकाल से जैन और बौद्ध परंपरा के बीच अहिंसा के संबंध में पारस्परिक खण्डन-मण्डन बहुत हुआ है। 'सूत्रकृतांग' जैसे प्राचीन आगम में भी अहिंसा संबंधी बौद्ध मन्तव्य का खण्डन है। इसी तरह 'मज्झिमनिकाय' जैसे पिटक ग्रंथों में भी जैन अहिंसा का सपरिहास खण्डन पाया जाता है। उत्तरवर्ती निर्युक्ति आदि जैन ग्रंथों में तथा 'अभिधर्मकोष' आदि बौद्ध ग्रंथों में भी वही पुराना खण्डन-मण्डन नए रूप में देखा जाता है। जब जैन-बौद्ध दोनों परंपराएँ वैदिक हिंसा की एक-सी विरोधिनी हैं और जब दोनों की अहिंसा संबंधी व्याख्या में कोई तात्त्विक मतभेद नहीं, तब पहले से ही दोनों में पारस्परिक खण्डन-मण्डन क्यों शुरू हुआ और चल पड़ा—यह एक प्रश्न है। इसका जवाब जब हम दोनों परंपराओं के साहित्य को ध्यान से पढ़ते हैं तब मिल जाता है। खण्डन-मण्डन के अनेक कारणों में से प्रधान कारण तो यही है कि जैन परंपरा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को अमल में लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियंत्रित किया वह बौद्ध परंपरा ने नहीं किया। जीवन-संबंधी बाह्य प्रवृत्तियों के अति नियंत्रण और मध्यममार्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद में से ही जैन और बौद्ध परंपराएँ आपस में खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त हुईं। इस खण्डन-मण्डन का भी जैन वाङ्मय के अहिंसा संबंधी ऊहापोह में खासा हिस्सा है, जिसका कुछ नमूना ज्ञानबिन्दु के टिप्पणों में दिए हुए जैन और बौद्ध अवतरणों से जाना जा सकता है। जब हम दोनों परंपराओं के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते हैं तब निःसंकोच कहना पड़ता है कि बहुधा दोनों ने एक दूसरे को गलत रूप से ही समझा है। इसका एक उदाहरण 'मज्झिमनिकाय' का उपालिसुत्त और दूसरा नमूना सूत्रकृतांग (२. ६. २६-२८) का है।

अहिंसा की कोटियाँ : हिंसा

जैसे-जैसे जैन साधुसंघ का विस्तार होता गया और जुदे-जुदे देश तथा काल में नई-नई परिस्थिति के कारण नए-नए प्रश्न उत्पन्न होते गए वैसे-वैसे जैन तत्त्वचिन्तकों ने अहिंसा की व्याख्या और विश्लेषण में से एक स्पष्ट

नया विचार प्रकट किया। वह यह कि अगर अप्रमत्त भाव से कोई जीव-विराधना–हिंसा हो जाए या करनी पड़े तो वह मात्र अहिंसाकोटि की अतएव निर्दोष ही नहीं है, बल्कि वह गुण (निर्जरा) वर्धक भी है। इस विचार के अनुसार, साधु पूर्ण अहिंसा का स्वीकार कर लेने के बाद भी अगर संयत जीवन की पुष्टि के निमित्त, विविध प्रकार की हिंसारूप समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करता है तो वह संयमविकास में एक कदम आगे बढ़ता है। यही जैन परिभाषा के अनुसार निश्चय अहिंसा है। जो त्यागी बिलकुल वस्त्र आदि रखने के विरोधी थे वे मर्यादित रूप में वस्त्र आदि उपकरण (साधन) रखनेवाले साधुओं को जब हिंसा के नाम पर कोसने लगे, तब वस्त्रादि के समर्थक त्यागियों ने उसी निश्चय सिद्धान्त का आश्रय लेकर जवाब दिया कि केवल संयम के धारण और निर्वाह के वास्ते ही, शरीर की तरह मर्यादित उपकरण आदि का रखना अहिंसा का बाधक नहीं। जैन साधुसंघ की इस प्रकार की पारस्परिक आचारभेदमूलक चर्चा के द्वारा भी अहिंसा के ऊहापोह में बहुत-कुछ विकास देखा जाता है, जो ओघनिर्युक्ति आदि में स्पष्ट है।

कभी-कभी अहिंसा की चर्चा शुष्क तर्क की-सी हुई जान पड़ती है। एक व्यक्ति प्रश्न करता है कि अगर वस्त्र रखना ही है तो वह बिना फाड़े अखण्ड ही क्यों न रखा जाए, क्योंकि उसके फाड़ने से जो सूक्ष्म अणु उड़ेंगे वे जीवघातक जरूर होंगे। इस प्रश्न का जवाब भी उसी ढंग से दिया गया है। जवाब देनेवाला कहता है कि अगर वस्त्र फाड़ने से फैलनेवाले सूक्ष्म अणुओं के द्वारा जीवघात होता है, तो तुम जो हमें वस्त्र फाड़ने से रोकने के लिए कुछ कहते हो उससे भी तो जीवघात होता है न ?—इत्यादि। अस्तु। जो कुछ हो, पर हम जिनभद्रगणि की स्पष्ट वाणी में जैनपरंपरासम्मत अहिंसा का पूर्ण स्वरूप पाते हैं। वे कहते हैं कि स्थान सजीव हो या निर्जीव, उसमें कोई जीव घातक हो जाता हो या कोई अघातक ही देखा जाता हो, पर इतने मात्र से हिंसा या अहिंसा का निर्णय नहीं हो सकता। हिंसा सचमुच प्रमाद—अयतना—असंयम में ही है, फिर चाहे किसी जीव का घात न भी होता हो। इसी तरह अगर अप्रमाद या यतना—संयम सुरक्षित है, तो जीवघात दिखाई देने पर भी वस्तुतः अहिंसा ही है।

जैन ऊहापोह की क्रमिक भूमिकाएँ

उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा सबंधी जैन ऊहापोह की नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाएँ फलित होती है

(१) प्राण का नाश हिंसारूप होने से उसको रोकना ही अहिंसा है।

(२) जीवन धारण की समस्या मे से फलित हुआ कि जीवन—खासकर सयमी जीवन के लिए अनिवार्य समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करते रहने पर अगर जीवघात हो भी जाए तो भी यदि प्रमाद नही है तो वह जीवघात हिंसात्मक न होकर अहिंसा ही है।

(३) अगर पूर्णरूपेण अहिंसक रहना हो तो वस्तुत और सर्वप्रथम चित्तगत क्लेश (प्रमाद) का ही त्याग करना चाहिए। यह हुआ तो अहिंसा सिद्ध हुई। अहिंसा का बाह्य प्रवृत्तियो के साथ कोई नियत सबध नही है। उसका नियत सबध मानसिक प्रवृत्तियो के साथ है।

(४) वैयक्तिक या सामूहिक जीवन मे ऐसे भी अपवाद-स्थान आते है जब कि हिंसा मात्र अहिंसा ही नही रहती प्रत्युत वह गुणवर्धक भी बन जाती है। ऐसे आपवादिक स्थानो मे अगर कही जानेवाली हिंसा से डरकर उसे आचरण मे न लाया जाए तो उल्टा दोष लगता है।

जैन एवं मीमांसक आदि के बीच साम्य

जैन अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद की यह चर्चा ठीक अक्षरशः मीमांसा और स्मृति के अहिंसा सबधी उत्सर्ग अपवाद की विचारसरणी से मिलती है। अन्तर है तो यही कि जहाँ जैन विचारसरणी साधु या पूर्णत्यागी के जीवन को लक्ष्य मे रखकर प्रतिष्ठित हुई है वहाँ मीमांसक और स्मार्तों की विचारसरणी गृहस्थ त्यागी सभी के जीवन को केन्द्रस्थान मे रखकर प्रचलित हुई है। दोनो का साम्य इस प्रकार है—

१ जैन	२ वैदिक
१ सव्वे पाणा न हतव्वा	१ मा हिंस्यात् सर्वभूतानि

१ जैन	२ वैदिक
२ साधुजीवन की अविराधना का प्रश्न ।	२ चारों आश्रम के सभी प्रकार के अधिकारियों के जीवन की तथा तत्संबंधी कर्तव्यों की आराधना का प्रश्न ।
३ शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा का अभाव अर्थात् निषिद्धाचरण ही हिंसा ।	३ शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा-दोष का अभाव अर्थात् निषिद्धाचार ही हिंसा है ।

यहाँ यह ध्यान रहे कि जैन तत्त्वज्ञ 'शास्त्र' शब्द से जैन शास्त्र को—खासकर साधु-जीवन के विधि-निषेध प्रतिपादक शास्त्र को ही लेता है, जब कि वैदिक तत्त्वचिन्तक शास्त्र शब्द से उन सभी शास्त्रों को लेता है, जिन में वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, धार्मिक और राजकीय आदि सभी कर्तव्यों का विधान है ।

१ जैन	२ वैदिक
४ अन्ततोगत्वा अहिंसा का मर्म जिनाज्ञा के—जैन शास्त्र के यथावत् अनुसरण में ही है ।	४ अन्ततोगत्वा अहिंसा का तात्पर्य वेद तथा स्मृतियों की आज्ञा के पालन में ही है ।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ४१२-४१३)

अहिंसा की भावना का विकास

नेमिनाथ की करुणा

भगवान पार्श्वनाथ के पहले निर्ग्रन्थ-परम्परा में यदुकुमार नेमिनाथ हो गए हैं। उनकी अर्ध-ऐतिहासिक जीवनकथाओं में एक घटना का जो उल्लेख मिलता है, उसको निर्ग्रन्थ-परम्परा की अहिंसक भावना का एक सीमाचिह्न कहा जा सकता है। लग्न-विवाहादि सामाजिक उत्सव-समारंभों में जीमने-जिमाने और आमोद-प्रमोद करने का रिवाज तो आज भी चालू है, पर उस समय ऐसे समारंभों में नानाविध पशुओं का वध करके उनके मांस से जीमन को आकर्षित बनाने की प्रथा आम तौर से रही। खास कर क्षत्रियादि जातियों में तो यह प्रथा और भी रूढ़ थी। इस प्रथा के अनुसार लग्न के निमित्त किए जाने वाले उत्सव में वध करने के लिए एकत्र किये गए हरिन

आदि विविध पशुओं का आर्तनाद सुनकर नेमिकुमार ने ठीक लग्न के मौके पर ही करुणार्द्र होकर अपने लग्न का मनोरथ ही छोड़ दिया जिसमें पशुओं का वध करके मांस का खाना-खिलाना प्रतिष्ठित माना जाता था। नेमिकुमार के इस करुणामय ब्रह्मचर्यवास का उस समय समाज पर ऐसा असर पड़ा और क्रमशः वह असर बढ़ता गया कि धीरे-धीरे उत्तर भारत में सामाजिक समारम्भों के समय मांस-खिलाने की प्रथा को ही तिलांजलि दे दी। सम्भवतः यही पहली घटना है जो सामाजिक व्यवहार में अहिंसा की नींव पड़ने की सूचक है। नेमिकुमार यादव-शिरोमणि देवकीनन्दन कृष्ण के अनुज थे। जान पड़ता है कि इस कारण से द्वारका और मथुरा के यादवों पर अच्छा असर पड़ा।

पार्श्वनाथ का हिंसाविरोध

इतिहास-काल में भगवान् पार्श्वनाथ का स्थान है। उनकी जीवनी कह रही है कि उन्होंने अहिंसा की भावना को विकसित करने के लिए एक दूसरा ही कदम उठाया। पञ्चाग्नि जैसी तामस तपस्याओं में सूक्ष्म-स्थूल प्राणियों का विचार किए बिना ही आग जलाने की प्रथा थी जिससे कभी-कभी ईंधन के साथ अन्य प्राणी भी जल जाते थे। काशीराज अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ ने ऐसी हिंसाजनक तपस्या का घोर विरोध किया और धर्म-क्षेत्र में अविवेक से होने वाली हिंसा के त्याग की ओर लोकमत तैयार किया।

भगवान महावीर के द्वारा की गई अहिंसा की प्रतिष्ठा

पार्श्वनाथ के द्वारा पुष्ट की गई अहिंसा की भावना सिद्धार्थनन्दन ज्ञातपुत्र महावीर को विरासत में मिली। उन्होंने यज्ञ-यागादि जैसे धर्म के पूरे-पूरे क्षेत्रों में होनेवाली हिंसा का तथागत बुद्ध की तरह आत्यन्तिक विरोध किया और धर्म के प्रदेश में अहिंसा की इतनी अधिक प्रतिष्ठा की कि इसके बाद तो अहिंसा ही भारतीय धर्मों का प्राण बन गई। भगवान महावीर की उग्र अहिंसापरायण जीवन-यात्रा तथा एकाग्र तपस्या ने तत्कालीन अनेक प्रभावशाली ब्राह्मण व क्षत्रियों को अहिंसा-भावना की

ओर खींचा। फलतः उत्तर भारत में सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों में अहिंसा की भावना ने जड़ जमाई, जिसके कारण आगे चलकर निरामिषभोजिता ही अगली पीढ़ियों की परम्परागत का महत्त्व बना हुआ है।

अहिंसा के अन्य प्रचारक

अशोक के बाद सम्प्रति ने अपने पितामह के अहिंसक सन्देश को निरा-न्त को आर्य सुहस्ति की प्रेरणा से आगे तक बढ़ा दिया। सम्प्रति ने केवल अपने अधीन राज्य-प्रदेश में ही नहीं, बल्कि अपने राज्य की सीमा से बाहर भी—जहाँ अहिंसामूलक जीवन-व्यवहार का नाम भी न था—अहिंसा-भावना का फैलाव किया। अहिंसा-भावना के इस प्रचार की बाढ़ में अनेक का हाथ अवश्य है पर निर्ग्रन्थ अनगारों का तो इसके सिवाय और कोई ध्येय ही नहीं रहा है। वे भारत में पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जहाँ-जहाँ गए वहाँ उन्होंने अहिंसा की भावना का ही विस्तार किया और हिंसा-मूलक अनेक व्यसनों के त्याग की जनता को शिक्षा देने में ही निर्ग्रन्थ-धर्म की कृतकृत्यता का अनुभव किया। जैसे शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर मठ स्थापित करके ब्रह्माद्वैत का विजय-स्तम्भ रोपा है, वैसे ही महावीर के अनुयायी अनगार निर्ग्रन्थों ने भारत जैसे विशाल देश के चारों कोनों में अहिंसाद्वैत की भावना के विजय-स्तम्भ रोप दिए हैं—ऐसा कहा जाए तो अयुक्त न होगी। लोकमान्य तिलक ने इस बात को यों कहा था कि गुजरात की अहिंसा-भावना जैनों की ही देन है, पर इतिहास हमें कहता है कि वैष्णवादि अनेक वैदिक परम्पराओं की अहिंसामूलक धर्मवृत्ति में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य काम कर रहा है। उन वैदिक सम्प्रदायों के प्रत्येक जीवनव्यवहार की छानबीन करने से कोई भी विचारक यह सरलता से जान सकता है कि इसमें निर्ग्रन्थों की अहिंसा-भावना का पुट अवश्य है। आज भारत में हिंसामूलक यज्ञ-यागादि धर्म-विधि का समर्थक भी यह साहस नहीं कर सकता है कि वह यजमानों को पशुवध के लिए प्रेरित करे।

आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरपति परममाहेश्वर सिद्धराज तक को बहुत

लोगों से अहिंसा की भावना से प्रभावित किया। इसका फल अनेक विभागों में अच्छा आया। अनेक देव-देवियों के नामगे खास-खास पर्वों पर होने वाली हिंसा रुक गई और ऐसी हिंसा को रोकने के व्यापक आन्दोलन की एक नींव पड़ गई। सिद्धराज का उत्तराधिकारी गुर्जरपति कुमारपाल तो परमार्हत ही था। वह सच्चे अर्थ में परमार्हत इसलिए माना गया कि उसने जैसी और जितनी अहिंसा की भावना पुष्ट की और जैसा उसका विस्तार किया वह इतिहास में बेजोड़ है। कुमारपाल की 'अमारि-घोषणा' इतनी लोकप्रिय बनी कि आगे के अनेक निर्ग्रन्थ और उनके गृहस्थ-शिष्य 'अमारि-घोषणा' को अपने जीवन का ध्येय बनाकर ही काम करने लगे। आचार्य हेमचन्द्र के पहले कई निर्ग्रन्थों ने मांसाशी जातियों को अहिंसा की दीक्षा दी थी और निर्ग्रन्थ-संघ में ओसवाल-पोरवाल आदि वर्ग स्थापित किए थे। पर मांसाशी विरोधी जातियाँ भी अहिंसा के रंग से बच न सकीं। हीरविजयसूरि ने अकबर जैसे भारत-सम्राट् से भिक्षा में इतना ही माँगा कि वह हमेशा के लिए नहीं तो कुछ खास-खास तिथियों पर अमारि-घोषणा जारी करे। अकबर के उस पथ पर जहाँगीर आदि उनके वंशज भी चले। जो जन्म से ही मांसाशी थे उन मुगल सम्राटों के द्वारा अहिंसा का इतना विस्तार कराना यह आज भी सरल नहीं है।

आज भी हम देखते हैं कि जैन-समाज ही ऐसा है जो जहाँ तक सम्भव हो विविध क्षेत्रों में होनेवाली पशु-पक्षी आदि की हिंसा को रोकने का सतत प्रयत्न करता है। इस विशाल देश में पूरे-पूरे संस्कारवाली अनेक जातियाँ पड़ोस-पड़ोस में बसती हैं। अनेक जन्म से ही मांसाशी भी हैं। फिर भी जहाँ देखो वहाँ अहिंसा के प्रति लोकरुचि तो है ही। मध्यकाल में ऐसे अनेक सन्त और फकीर हुए जिन्होंने एक मात्र अहिंसा और दया का ही उपदेश दिया है जो भारत की आत्मा में अहिंसा की गहरी जड़ की साक्षी है।

महात्मा गांधीजी ने भारत में नव-जीवन का प्राण प्रस्फुटित करने का संकल्प किया तो वह केवल अहिंसा की भूमिका के ऊपर ही। यदि उनको अहिंसा की भावना का ऐसा तैयार क्षेत्र न मिलता तो वे शायद ही इतने सफल होते।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ७५-७८)

अहिंसा और अमारि

मानवप्रकृति मे हिंसा और अहिंसा के तत्त्व रहे हुए हैं। भारत मे उसके मूल निवासियो की और बाद मे उनके विजेता के रूप मे प्रसिद्ध आर्यों की समृद्धि के समय अनेक प्रकार के वलिदान एव यज्ञ-याग की प्रथा थी और उसमे केवल पशुपक्षी ही नही, वल्कि मनुष्य तक की वलि दी जाती थी। धार्मिक समझा जानेवाला हिंसा का यह प्रकार इतनी हद तक फैला हुआ था कि उसकी प्रतिक्रिया के रूप म दूसरी ओर हिंसा का विरोध शुरू हुआ था। अहिंसा की भावनावाले ऐसे पन्थ तो भगवान महावीर और वुद्ध के पहले भी स्थापित हो चुके थे। ऐसा होने पर भी अहिंसातत्त्व के अनन्य पोषक एव अहिंसा की आज की चालू गंगोत्री के रूप मे जो दो महान् ऐतिहासिक पुरुष हमारे समक्ष है वे भगवान महावीर और वुद्ध ही हैं। उनके समय मे और उनके पीछे भारत मे अहिंसा को जो पोषण मिला है, उसका जितने प्रकार से और जितनी दिशा मे प्रचार हुआ है तथा अहिंसा तत्त्व के वारे मे जो शास्त्रीय और सूक्ष्म विचार हुआ है उसकी तुलना भारत के वाहर किसी भी देश के इतिहास मे प्राप्त नही हो सकती। दुनिया के दूसरे देशो और दूसरी जातियो पर असाधारण प्रभाव डालनेवाला, उनको जीतनेवाला और सवदा के लिए उनका मन हरनेवाला कोई तत्त्व भारत मे उत्पन्न हुआ हो, तो वह हजारो वर्षो से आज तक लगातार कमोवेश रूप मे प्रचलित और विकसित अहिंसातत्त्व ही है।

अशोक, सम्प्रति और खारवेल

अहिंसा के प्रचारक जैन एव वौद्ध सघो की व्यवस्थित स्थापना के पश्चात् उनका प्रचारकार्य चारो ओर जोरो से चलने लगा। इसके प्रमाण आज भी विद्यमान हैं। महान् सम्राट् अशोक के धर्मानुशासनो मे जो आदेश है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने उत्सवो और समारम्भो मे हिंसा न करने की आज्ञा दी थी, अथवा एक प्रकार से लोगों के समक्ष वैसा न करने की अपनी इच्छा उसने प्रदर्शित की थी। स्वय हिंसामुक्त हो, फकीरी अपनाकर राजदण्ड धारण करनेवाले अशोक की धर्माज्ञाओ का प्रभाव

प्रत्येक पन्थ के लोगों पर जितना पड़ा होगा इसकी कल्पना करना मुश्किल नहीं है। राजकीय आदेशों द्वारा अहिंसा के प्रचार का यह मार्ग अशोक के आगे रुक गया हो ऐसी बात नहीं है। उसके पौत्र और प्रसिद्ध जैन राजा सम्प्रति ने इस मार्ग का अनुसरण किया था और अपने पितामह की अहिंसा की भावना को उसने अपने ढंग से और अपनी रीति से खूब पोसा था। राजा, राजकुटुम्ब और बड़े-बड़े अधिकारी अहिंसा के प्रचार की ओर उन्मुख हों इस पर से दो बातें सहज भाव से फलित होती हैं। एक तो यह कि अहिंसा-प्रचारक संघों ने कितनी हद तक प्रगति की थी कि जिसका असर महान् सम्राटों पर भी पड़ा था और दूसरी बात यह कि राजाओं को अहिंसा-तत्त्व कितना रुचिकर हुआ था अथवा उसमें शामिल हुआ था कि जिसके कारण वे अहिंसा की घोषणा करनेवाले ऐसे राजाओं का बहुमान करते रहे थे। कलिंगराज आर्हत सम्राट् खारवेल ने भी इस दिशा में खूब प्रयत्न किये होंगे ऐसा उनके कार्यों पर से लगता है।

बीच-बीच में हिंसापरायणवाले मत के पुनः सत्ताप्रवृत्ति में से उदित होते गये ऐसा इतिहास स्पष्ट कहता है फिर भी सामान्य रूप से देखने पर भारत में तथा भारत के बाहर उपर्युक्त दोनों अहिंसाप्रचारक संघों के कार्य ने अधिक सफलता प्राप्त की है। दक्षिण एवं उत्तर भारत के मध्यकालीन जैन और बौद्ध राजाओं तथा राजकुटुम्बों एवं अधिकारियों का सबप्रथम कार्य अहिंसा के प्रचार का ही रहा होगा ऐसा मानने के अनेक कारण हैं।

कुमारपाल और अकबर

पश्चिम भारत के प्रभावशाली राज्यकर्ता परम आर्हत कुमारपाल की अहिंसा तो इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि आज-कल लोगों को वह बात अतिशयतापूर्ण लगती है। मुगलसम्राट् अकबर का मन जीतनेवाले त्यागी जैन भिक्षु हीरविजयसूरि और उनके अनुगामी शिष्यों द्वारा बादशाहों के पास से अहिंसा के बारे में प्राप्त किये गये फरमान सदा के लिए इतिहास में अमर रहेंगे। इसके अतिरिक्त राजाओं, जमींदारों, उच्च अधिकारियों तथा गाँव के अगुआ की ओर से भी हिंसा न करने के जो वचन दिये गये थे वे यदि हम प्राप्त कर सकें तो इस देश में अहिंसाप्रचारक संघ ने

अहिंसा का वातावरण जमाने में कितना पुरुषार्थ किया था उसकी कुछ कल्पना आ सकती है।

अहिंसा के प्रचार का एक प्रमाण : पिंजरापोल

अहिंसा के प्रचार के एक सबल प्रमाण के रूप में हमारे यहाँ पिंजरापोल की संस्था चली आ रही है। यह परम्परा कब से और किस के द्वारा अस्तित्व में आई यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, फिर भी गुजरात में इसके प्रचार एवं उसकी प्रतिष्ठा को देखते हुए ऐसा मानने का मन हो जाता है कि पिंजरापोल संस्था को व्यापक रूप देने में सम्भवतः कुमारपाल और उनके धर्मगुरु आचार्य हेमचन्द्र का मुख्य हाथ रहा हो। समग्र कच्छ, सौराष्ट्र एवं गुजरात तथा राजस्थान के अमुक भाग का कोई ऐसा प्रसिद्ध नगर या अच्छी बस्तीवाला कस्बा शायद ही मिले जहाँ पिंजरापोल न हो। अनेक स्थानों पर तो छोटे-छोटे गाँवों तक में भी प्राथमिक शालाओं (प्राइमरी स्कूल) की भाँति पिंजरापोल की शाखाएँ हैं। ये सब पिंजरापोल मुख्यतः पशुओं को और अंशतः पक्षियों को बचाने का और उनकी देखभाल रखने का कार्य करती हैं। हमारे पास इस समय निश्चित आँकड़े नहीं हैं, परन्तु मेरा स्थूल अनुमान है कि प्रतिवर्ष इन पिंजरापोलों के पीछे जैन पचास लाख से कम खर्च नहीं करते होंगे और इन पिंजरापोलों के आश्रय में अधिक नहीं तो लाख के करीब छोटे-बड़े जीव पोषण पाते होंगे। गुजरात के बाहर के भागों में जहाँ-जहाँ गोशालाएँ चलती हैं वहाँ सर्वत्र आम तौर पर सिर्फ गायों की ही रक्षा की जाती है। गोशालाएँ भी देश में बहुत हैं और उनमें हजारों गायें रक्षण पाती हैं। पिंजरापोल की संस्था हो या गोशाला की संस्था हो, परन्तु यह सब पशुरक्षण की प्रवृत्ति अहिंसाप्रचारक संघ के पुरुषार्थ पर ही अवलम्बित है ऐसा कोई भी विचारक कहे बिना शायद ही रहे। इसके अलावा चींटियों को आटा डालने की प्रथा तथा जलचरों को आटे की गोलियाँ खिलाने की प्रथा, शिकार एवं देवी के भोगों को बन्द कराने की प्रथा—यह सब अहिंसा की भावना का ही परिणाम है।

मानवजाति की सेवा करने की प्रवृत्ति

अब तक हमने पशु पक्षी तथा दूसरे जीवजन्तुओं के बारे में ही विचार किया। अब हम मानवजाति की ओर उन्मुख हों। देश में दानप्रथा इतनी प्रचण्ड रूप में चलती थी कि उसकी वजह से कोई मनुष्य शायद ही भूखा रहता। भयंकर और व्यापक कम्बे अकालों में जगडूशा जैसे दानी गृहस्थों ने अपने अन्न-भण्डार तथा खजाने खोल दिये थे इसके विश्वस्त प्रमाण विद्यमान हैं। जिस देश में पशुपक्षी एवं दूसरे क्षुद्र जीवों के लिए करोड़ों रुपयों का खर्च किया जाता हो उस देश में मानवजाति के लिए दयावृत्ति कम हो अथवा तो उसके लिए कुछ भी न किया गया हो ऐसी कल्पना करना भी विचारशक्ति के बाहर की बात है। हमारे देश का आतिथ्य प्रसिद्ध है और यह आतिथ्य मानवजाति का ही उपलक्षक है। देश में लाखों त्यागी और साधु सन्यासी हो गये हैं और आज भी हैं। वे आतिथ्य अथवा मानव के प्रति लोगों की वृत्ति का एक निदर्शन हैं। अपाहिजों, अनाथों और बीमारों के लिए अधिक से अधिक करने का विधान ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शास्त्रों में आता है जो तत्कालीन लोकरुचि का प्रतिभास ही है। मानवजाति की सेवा की प्रतिदिन बढ़ती जाती आवश्यकता के कारण तथा पड़ोसी-धर्म की महत्ता सर्वप्रथम होने से बहुत बार कई लोग आवेशवश एवं अल्पज्ञता में अहिंसा-प्रेमी लोगों का ऐसा मज़ाक करते हैं कि उनकी अहिंसा चींटे चींटी और बहुत हुआ तो पशु-पक्षी तक गई है मानवजाति तथा देशबन्धुओं तक उसका बहुत कम प्रसार हुआ है। परन्तु यह विधान योग्य नहीं है इसके लिए नीचे की बातें पर्याप्त समझी जायगी।

(१) प्राचीन और मध्यकाल को एक ओर रखकर यदि अन्तिम सौ वर्षों में छोटे-बड़े और भयंकर अकालों तथा दूसरी प्राकृतिक आपत्तियों को लेकर उस समय का इतिहास देखें तो उनमें अन्न-कष्ट से पीड़ित मनुष्यों के लिए अहिंसा-पोषक संघ की ओर से कितना-कितना किया गया है। कितना अन्न बाँटा गया है। औषधोपचार और कपड़ों के लिए भी कितना किया गया है[1] उदाहरणार्थ वि सं १९५६ का अकाल के विषय में विचार किया जा सकता है।

(२) अकाल या वैसी कोई दूसरी प्राकृतिक आपत्ति न हो तब समय

भी छोटे गांवो तक मे यदि कोई भूखे मर रहा हो ऐसा ज्ञात हो तो उनके लिए महाजन अथवा कोई एकाध गृहस्थ क्या और किस तरह सहायता करना है इसकी जानकारी प्राप्त की जाय।

(३) आज करोड़ जितने फकीरो, बावाओ और साधुसन्तो का वर्ग अधिकांशत श्रम किये बिना ही दूसरे साधारण श्रमिकवर्ग जितने ही सुख और आराम से हमेशा निभता आया है और अब भी निभ रहा है।

अमारि का निषेधात्मक और भावात्मक रूप : अहिंसा और दया

अहिंसा अथवा अमारि के दो रूप है : (१) निषेधात्मक, (२) उसमे से फलित होने वाला भावात्मक। किसी को आघात न पहुंचाना अथवा किसी को अपने दुःख का, उसकी अनिच्छा से, भागी न बनाना, यह निषेधात्मक अहिंसा है। दूसरे के दुःख मे हाथ बँटाना अथवा तो अपनी सुख-सुविधा का लाभ दूसरे को देना, यह भावात्मक अहिंसा है। यही भावात्मक अहिंसा दया अथवा सेवा कही जाती है। सुविधा की दृष्टि से हम उक्त दोनो प्रकार की अहिंसा का अनुक्रम से अहिंसा और दया इन दो नामो से व्यवहार करेंगे। अहिंसा एक ऐसी वस्तु है जिस की दया की अपेक्षा कही अधिक मूल्यवत्ता होने पर भी वह दया की भाँति एकदम सबकी नजर मे नही आती। दया को लोकगम्य कहे, तो अहिंसा को स्वगम्य कह सकते है। अहिंसा का अनुसरण करनेवाला मनुष्य उसकी सुगन्ध का अनुभव करता है। उसका लाभ तो अनिवार्यत दूसरो को मिलता है, परन्तु बहुत बार लाभ पानेवाले तक को उस लाभ के कारणरूप अहिंसातत्त्व का ख्याल तक नही आता और उस अहिंसा का सुन्दर प्रभाव दूसरो के मन पर पडने मे बहुत बार काफी लम्बा समय बीत जाता है। दया के बारे मे इससे उलटा है। दया एक ऐसी वस्तु है, जिसके पालनेवाले की अपेक्षा उसका लाभ उठानेवाले को ही वह अधिक सुगन्ध देती है। दया का सुन्दर प्रभाव दूसरो के मन पर पडने मे समय नही लगता। इससे दया खुली तलवार की तरह सबकी दृष्टि मे आ जाय ऐसी वस्तु है। इसीलिए उसके आचरण मे ही धर्म की प्रभावना दिखती है।

समाज के व्यवस्थित धारण एव पोषण के लिए अहिंसा एव दया दोनो की अनिवार्य आवश्यकता है। जिस समाज और जिस राष्ट्र मे जितने अंश मे

दूसरो का शोषण अधिक होगा ही निर्बलो के अधिकार अधिक कुचले जाते हो वह समाज अथवा वह राष्ट्र उतना ही अधिक दुःखी और गुलाम होगा। इससे विपरीत जिस समाज और जिस राष्ट्र मे एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर अथवा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर जितना भार कम अथवा दूसरे निर्बलो के अधिकारो की जितनी अधिक रक्षा उतना ही वह समाज और वह राष्ट्र अधिक सुखी और स्वतन्त्र होगा। इसी प्रकार जिस समाज और जिस राष्ट्र मे सशक्त व्यक्तियो की ओर से निर्बलो के लिए अपनी सुख सुविधा का जितना भोग दिया जायगा जितनी उनकी अधिक सेवा की जायगी उतना वह समाज और वह राष्ट्र अधिक स्वस्थ और सम्पन्न होगा। इससे उल्टा जितनी अधिक स्वार्थवृत्ति होगी उतना ही अधिक वह समाज पामर और छिन्न-भिन्न होगा। इस प्रकार हम समाजो और राष्ट्रो के इतिहास पर से जो एक निश्चित परिणाम निकाल सकते है वह यह कि अहिंसा और दया ये दोनो जितने आध्यात्मिक हित करनेवाले तत्त्व है उतने ही वे समाज और राष्ट्र के धारक एव पोषक तत्त्व भी है।

इन दोनो तत्त्वो की जगत के कल्याण के लिए समान आवश्यकता होने पर भी अहिंसा की अपेक्षा दयावृत्ति को जीवन मे उतारना कुछ सरल है। अन्तर्दर्शन के बिना अहिंसा को जीवन मे उतारना शक्य नही है परन्तु दया तो जिनको अन्तर्दर्शन नही हुआ है ऐसे हमारे-जैसे साधारण लोगो के जीवन मे भी उतर सकती है।

अहिंसा निषेधात्मक होने से दूसरे किसी को त्रास देने के कार्य से दूर रहने मे वह आ जाती है और उसमे बहुत बारीकी से विचार न किया हो तो भी उसका अनुसरण विधिपूर्वक शक्य है परन्तु दया के बारे मे ऐसा नही है। भावात्मक होने से और उसके आचरण का आधार सयोग और परिस्थिति पर रहने से दया के पालन मे विचार करना पड़ता है बहुत सावधान रहना पड़ता है और देश-काल की स्थिति का पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

(द अ चि भा १, पृ ५८१ ५८६)

अप्रमाद और अहिंसा

हिंसा का मतलब है—प्रमाद या उपयोग या आसक्ति। उसका त्याग ही

अहिंसा है। जैन ग्रन्थों में प्राचीन काल से चली आनेवाली आत्मघात की प्रथाओं का निषेध किया है। पहाड़ से गिरकर, पानी में डूबकर, जहर खाकर आदि प्रथाएँ मरने की थीं और हैं—धर्म के नाम पर भी और दुनयावी कारणों से भी। जैसे पशु आदि की बलि धर्म रूप में प्रचलित है वैसे ही आत्मबलि भी प्रचलित रही, और कहीं-कहीं अब भी है, खासकर शिव या शक्ति के सामने।

एक तरफ से ऐसी प्रथाओं का निषेध और दूसरी तरफ से प्राणान्त अनशन या संथारे का विधान। यह विरोध ज़रूर उलझन में डालनेवाला है, पर भाव समझने पर कोई भी विरोध नहीं होता। जैनधर्म ने जिस प्राणनाश का निषेध किया है वह प्रमाद या आसक्तिपूर्वक किये जानेवाले प्राणनाश का ही। किसी ऐहिक या पारलौकिक संपत्ति की इच्छा से, कामिनी की कामना से और अन्य अभ्युदय की वाञ्छा से धर्मबुद्ध्या तरह-तरह के आत्मवध होते रहे हैं। जैनधर्म कहता है वह आत्मवध हिंसा है, क्योंकि उसका प्रेरक तत्त्व कोई-न-कोई आसक्तिभाव है। प्राणान्त अनशन और संथारा भी यदि उसी भाव से या डर से या लोभ से किया जाय तो वह हिंसा ही है। उसे जैनधर्म करने की आज्ञा नहीं देता। जिस प्राणान्त अनशन का विधान है, वह है समाधिमरण।

जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण-संयम—इनमें से एक ही की पसंदगी करने का विषम समय आ गया तब यदि सचमुच संयमप्राण व्यक्ति हो तो वह देहरक्षा की परवाह नहीं करेगा। मात्र देह की बलि देकर भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचा लेगा, जैसे कोई सच्ची सती दूसरा रास्ता न देखकर देह-नाश के द्वारा भी सतीत्व बचा लेती है। पर उस अवस्था में भी वह व्यक्ति न किसी पर रुष्ट होगा, न किसी तरह भयभीत और न किसी सुविधा पर तुष्ट। उसका ध्यान एकमात्र संयत जीवन को बचा लेने और समभाव की रक्षा में ही रहेगा। जब तक देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो, तब तक दोनों की रक्षा कर्तव्य है, पर एक की ही पसंदगी करने का सवाल आवे तब हमारे जैसे देहरक्षा पसंद करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी उल्टा करेगा। जीवन तो दोनों ही हैं—दैहिक और आध्यात्मिक। जो जिसका

अधिकारी होता है वह कमज़ोरी के समय पर उसी को पसंद करता है। और ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनवाले व्यक्ति के लिए प्राणान्त अनशन की इजाजत है, पामरों, भयभीतों या लालचियों के लिए नहीं। अब आप देखेंगे कि प्राणान्त अनशन देहरूप घर का नाश करके भी दिव्य जीवनरूप अपनी आत्मा को गिरने से बचा लेता है। इसलिए वह खरे अर्थ में तात्त्विक दृष्टि से अहिंसक ही है।

देह का नाश आत्महत्या कब ? टीकाकारों को उत्तर

जो लोग आत्मघात रूप में ऐसे अनशन का वर्णन करते हैं वे मर्म तक नहीं सोचते। परन्तु यदि किसी व्यक्ति उच्च उद्देश्य से किसी पर रागद्वेष बिना किए सम्पूर्ण मैत्रीभावपूर्वक निर्भय और प्रसन्न हृदय से बापू जैसा प्राणान्त अनशन करें, तो फिर वे ही टीकाकार उस मरण को सराहेंगे, कभी आत्मघात न कहेंगे क्योंकि ऐसे व्यक्ति का उद्देश्य और जीवनक्रम उन टीकाकारों की आँखों के सामने है, जबकि जैन परंपरा में संथारा करनेवाले चाहे गुणग्राही ही क्यों न हो पर उनका उद्देश्य और जीवनक्रम उस तरह सुविदित नहीं। परन्तु शास्त्र का विधान तो उसी दृष्टि से है और उसका अहिंसा के साथ पूरा मेल भी है। इस अर्थ में एक उपमा है। यदि कोई व्यक्ति अपना सारा घर जलता देखकर कोशिश करने पर भी उसे जलने से बचा न सके तो वह क्या करेगा? आखिर में सबको जलता छोड़कर अपने को बचा लेगा। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवनेच्छु की रहती है। वह यथासंभव देह का नाश कभी न करेगा। शास्त्र में उसका निषेध है। प्रत्युत देहरक्षा कर्तव्य मानी गई है पर वह संयम के निमित्त। आखिरी लाचारी में ही निर्दिष्ट शर्तों के साथ देहनाश समाधिमरण है और अहिंसा भी। अन्यथा बालमरण और हिंसा।

भयंकर दुष्काल आदि तंगी में देहरक्षा के निमित्त संयम से पतन होने का अवसर आवे या अनिवार्य रूप से मरण लानेवाली बीमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और फिर भी संयम या सद्गुण की रक्षा संभव न हो तब मात्र संयम और समभाव की दृष्टि से उपवास का विधान है, जिसमें एकमात्र सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन को ही

बचाने का लक्ष्य है। जब बापूजी आदि प्राणान्त अनशन की बात करते हैं और मशरूवाला आदि समर्थन करते हैं, तब उसके पीछे यही दृष्टिबिन्दु मुख्य है।

हिंसा नहीं, अपितु आध्यात्मिक वीरता

उसमें हिंसा की कोई बू तक नहीं है। यह तो उस व्यक्ति के लिए विधान है, जो एकमात्र आध्यात्मिक जीवन का उम्मेदवार और तदर्थ की हुई सत्प्रतिज्ञाओं के पालन में रत हो। इस जीवन के अधिकारी भी अनेक प्रकार के होते रहे हैं। एक तो वह जिसने जिनकल्प स्वीकार किया हो, जो आज विच्छिन्न है। जिनकल्पी अकेला रहता है और किसी तरह किसी की सेवा नहीं लेता। उसके वास्ते अन्तिम जीवन की घड़ियों में किसी की सेवा लेने का प्रसंग न आवे, इसलिये अनिवार्य होता है कि वह सावध और सशक्त अवस्था में ही ध्यान और तपस्या आदि द्वारा ऐसी तैयारी करे कि न मरण से डरना पड़े और न किसी की सेवा लेनी पड़े। वही सब जवाबदेहियों को अदा करने के बाद बारह वर्ष तक अकेला ध्यान-तप करके अपने जीवन का उत्सर्ग करता है। पर यह कल्प मात्र जिनकल्पी के लिये ही है। बाकी के विधान जुदे-जुदे अधिकारियों के लिए है। उन सबका सार यह है कि यदि की हुई सत्प्रतिज्ञाओं के भङ्ग का अवसर आवे और वह भङ्ग जो सहन कर नहीं सकता उसके लिए प्रतिज्ञाभंग की अपेक्षा प्रतिज्ञापालनपूर्वक मरण लेना ही श्रेयस्कर है। आप देखेंगे कि इसमें आध्यात्मिक वीरता है। स्थूल जीवन के लोभ से, आध्यात्मिक गुणों से च्युत होकर मृत्यु से भागने की कायरता नहीं है। और न तो स्थूल जीवन की निराशा से ऊबकर मृत्यु के मुख में पड़ने की आत्मवध कहलानेवाली बालिशता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से जितना ही निर्भय, उतना ही उसके लिए तैयार भी रहता है। वह जीवनप्रिय होता है, जीवन-मोही नहीं। संलेखना मरण को आमन्त्रित करने की विधि नहीं है, पर अपने-आप आनेवाली मृत्यु के लिए निर्भय तैयारी मात्र है। उसी के बाद संथारे का भी अवसर आ सकता है। इस तरह यह सारा विचार अहिंसा और तन्मूलक सद्गुणों की तन्मयता में से ही आया है, जो आज भी अनेक रूप से शिष्टसंमत है।

बौद्धधर्म में आत्मवध

राधाकृष्णन ने जो लिखा है कि बौद्ध-धर्म 'स्युसाइड' को नहीं मानता सो ठीक नहीं है। खुद बुद्ध के समय भिक्षु छन्न और भिक्षु वक्कली ने ऐसे ही असाध्य रोग के कारण आत्मवध किया था जिसे तथागत ने मान्य रखा। दोनों भिक्षु अप्रमत्त थे। उनके आत्मवध में फर्क यह है कि वे उपवास आदि के द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु की तैयारी नहीं करते किन्तु एकबारगी शस्त्रवध से स्वनाश करते हैं जिसे 'हरीकरी' कहना चाहिए। यद्यपि ऐसे शस्त्रवध की अनुमति जैन ग्रन्थों में नहीं है पर उसके समान दूसरे प्रकार के वधों की सम्मति है। दोनों परम्पराओं में मुख्य भूमिका सम्पूर्ण रूप से एक ही है और वह भाव समाधिजीवन की रक्षा। 'स्युसाइड' शब्द कुछ निन्द्य-सा है। शास्त्र का शब्द समाधिमरण और पण्डितमरण है जो उपयुक्त है। उक्त छन्न और वक्कली की कथा अनुक्रम से मज्झिमनिकाय और संयुत्तनिकाय में है।

कतिपय सूक्त

नमूने के लिए कुछ प्राकृत पद्य और उनका अनुवाद देता हूँ—

मरणपडियाररूवा एसा एवं च ण मरणनिमित्ता।
जह गंडछेयकिरिया णो आयविराहणारूवा॥

समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं किन्तु उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े को नश्तर लगाना आत्मविराधना के लिए नहीं होता।

'जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नावि पत्थए।'

उसे न तो जीवन की अभिलाषा है और न मरण के लिए वह प्रार्थना ही करता है।

'अप्पा खलु संथारो हवई विसुद्धचरित्तम्मि।'

चरित्र में स्थित विशुद्ध आत्मा ही संथारा है।

(द. औ. चि. ख. २, पृ. ५३३-५३६)

८

तप

बौद्ध-पिटकों में अनेक जगह 'निगठ' के साथ 'तपस्सी', 'दीघ तपस्सी' ऐसे विशेषण आते हैं। इस तरह कई बौद्ध सुत्तों में राजगृही आदि जैसे स्थानों में तपस्या करते हुए निग्रन्थों का वर्णन है, और खुद तथागत बुद्ध के द्वारा की गई निर्ग्रन्थों की तपस्या की समालोचना भी आती है।[1] इसी तरह जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी शिष्यों से कही वहाँ भी उन्होंने अपने साधना-काल में की गई कुछ ऐसी तपस्याओं का[2] वर्णन किया है, जो एकमात्र निर्ग्रन्थ-परंपरा की ही कही जा सकती हैं और इस समय उपलब्ध जैन आगमों में वर्णन की गई निर्ग्रन्थ-तपस्याओं के साथ अक्षरश मिलती हैं। अब हमें देखना यह है कि बौद्ध पिटकों में आनेवाला निर्ग्रन्थ-तपस्या का वर्णन कहाँ तक ऐतिहासिक है।

तपश्चर्याप्रधान निर्ग्रन्थ-परम्परा

खुद ज्ञातपुत्र महावीर का जीवन ही केवल उग्र तपस्या का मूर्त्त स्वरूप है, जो आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में मिलता है। इसके सिवाय आगमों के सभी पुराने स्तरों में जहाँ कहीं किसी के प्रव्रज्या लेने का वर्णन आता है वहाँ शुरू में ही हम देखते हैं कि वह दीक्षित निर्ग्रन्थ तप कर्म[3] का आचरण करता है। एक तरह से महावीर के साधुसंघ की सारी चर्या ही तपोमय मिलती है। अनुत्तरोववाई आदि आगमों में अनेक ऐसे मुनियों का वर्णन

---

१ मज्झिम० सु० ५६ और १४।

२ देखो मज्झिम० सु० २६। प्रो० कोशांबीकृत 'बुद्धचरित'।

३ भगवती ९ ३३। २ १। ९ ६।

बौद्धधर्म में आत्मवध

राधाकृष्णन ने जो लिखा है कि बौद्ध-धर्म 'स्युसाइड' को नहीं मानता सो ठीक नहीं है। खुद बुद्ध के समय भिक्षु छन्न और भिक्षु वक्कली ने ऐसे ही असाध्य रोग के कारण आत्मवध किया था जिसे तथागत ने मान्य रखा। दोनों भिक्षु अप्रमत्त थे। उनके आत्मवध में फर्क यह है कि वे उपवास आदि के द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु की तैयारी नहीं करते किन्तु एकबारगी शस्त्रवध से स्वनाश करते हैं, जिसे 'हराकरी' कहना चाहिए। यद्यपि ऐसे शस्त्रवध की सम्मति जैन ग्रन्थों में नहीं है, पर उसके समान दूसरे प्रकार के वध की सम्मति है। दोनों परम्पराओं में मूल भूमिका सम्पूर्ण रूप से एक ही है और वह मात्र समाधिजीवन की रक्षा। 'स्युसाइड' शब्द कुछ निंद्य-सा है। शास्त्र का शब्द समाधिमरण और पण्डितमरण है, जो उपयुक्त है। छन्न और वक्कली की कथा क्रमशः मज्झिमनिकाय और संयुत्तनिकाय में है।

कतिपय सूक्त

नमूने के लिए कुछ प्राकृत पद्य और उनका अनुवाद देता हूँ—

मरणपडियारभूया एसा एवं च न मरणनिमित्ता।
जह गण्डच्छेअकिरिया णो आयविराहणारूवा॥

समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं किन्तु उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े को नश्तर लगाना आत्मविराधना के लिए नहीं होता।

'जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नावि पत्थए।'

इसे न तो जीवन की अभिलाषा है और न मरण के लिए वह प्रार्थना ही करता है।

'अप्पा खलु संथारो हवई विसुद्धचरित्तम्मि।'

चारित्र में स्थित विशुद्ध आत्मा ही संथारा है।

(द. औ. चि. खं. २, पृ. ५३३-५३६)

पार्श्वनाथ की निग्रन्थ-परपरा तपश्चर्या-प्रधान रही। उस परपरा मे भ० महावीर ने शुद्धि या विकास का तत्त्व अपने जीवन के द्वारा भले ही दाखिल किया हो, पर उन्होंने पहले से चली आनेवाली पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे तपोमार्ग का नया प्रवेश तो नही किया। इसका सबूत हमे दूसरी तरह से भी मिल जाता है।

जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी का वर्णन करते हुए अनेकविध तपस्याओं की निःसारता अपने शिष्यो के सामने कही है वहाँ निग्रन्थ तपस्या का भी निर्देश किया है। बुद्ध ने ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही जन्म लिया था और गृहत्याग करके तपस्वी-मार्ग स्वीकार किया था। उस समय मे प्रचलित अन्यान्य पथो की तरह बुद्ध ने निग्रन्थ पथ को भी थोडे समय के लिए स्वीकार किया था और अपने समय मे प्रचलित निग्रन्थ-तपस्या का आचरण भी किया था। इसीलिए जब बुद्ध अपनी पूर्वाचरित तपस्याओ का वर्णन करते हैं, तब उसमे हूबहू निग्रन्थ-तपस्याओ का स्वरूप भी आता है, जो अभी जैन ग्रन्थो और जैन-परपरा के सिवाय अन्यत्र कही देखने को नही मिलता। महावीर के पहले जिस निग्रन्थ-तपस्या का बुद्ध ने अनुष्ठान किया वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा के सिवाय अन्य किसी निग्रन्थ-परपरा की सम्भव नही है, क्योकि महावीर तो अभी मौजूद ही नही थे और बुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु से लेकर उनके साधनास्थल राजगृही, गया, काशी आदि मे पार्श्वापत्यिक निग्रन्थ-परपरा का निर्विवाद अस्तित्व और प्राधान्य था। जहाँ बुद्ध ने सर्व प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया वह सारनाथ भी काशी का ही एक भाग है, और वह काशी पार्श्वनाथ की जन्मभूमि तथा तपस्याभूमि रही है। अपनी साधना के समय जो बुद्ध के साथ पाँच दूसरे भिक्षु थे वे बुद्ध को छोडकर सारनाथ—इसिपत्तन मे ही आकर अपना तप करते थे। आश्चर्य नही कि वे पाँच भिक्षु निर्ग्रन्थ-परम्परा के ही अनुगामी हो। कुछ भी हो, पर बुद्ध ने निग्रन्थ तपस्या का, भले ही थोडे समय के लिए, आचरण किया था इसमे कोई सदेह नही है। और वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निग्रन्थ-परपरा की ही हो सकती है। इससे हम यह मान सकते हैं कि ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही निग्रन्थ-परपरा का स्वरूप तपस्या-प्रधान ही था।

है, जिन्होंने उत्कट तप से अपने देह को केवल पंजर बना दिया[1] है। इसके सिवाय आज तक की श्रमण-परंपरा का शास्त्र तथा साधु-गृहस्थों का आचार देखने से भी हम यही कह सकते हैं कि महावीर के शासन में तप की महिमा अधिक रही है और उनके उत्कट तप का असर संघ पर ऐसा पड़ा है कि जैनत्व तप का दूसरा पर्याय ही बन गया है। महावीर के विहार के स्थानों में अंग-मगध, काशी-कोशल स्थान मुख्य हैं। जिस राजगृही आदि स्थान में तपस्या करनेवाले निर्ग्रन्थों का निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में आता है, वह राजगृही आदि स्थान तो महावीर के साधना और उपदेश-समय के मुख्य धाम रहे हैं और उन स्थानों में महावीर का निर्ग्रन्थ-संघ प्रधान रूप से रहा है। इस तरह हम बौद्ध पिटकों और जैन आगमों के मिलान से नीचे लिखे परिणाम पर पहुँचते हैं—

१. खुद महावीर और उनका निर्ग्रन्थ-संघ तपोमय जीवन के ऊपर अधिक भार देते थे।

२. अंग-मगध के राजगृही आदि और काशी-कोशल के श्रावस्ती आदि शहरों में तपस्या करनेवाले निर्ग्रन्थ बहुतायत से विचरते और पाए जाते थे।

महावीर के पहले भी तपश्चर्या की प्रधानता

ऊपर के कथन से महावीर के समकालीन और उत्तरकालीन निर्ग्रन्थ परंपरा की तपस्या-प्रधान वृत्ति में तो कोई संदेह रहता ही नहीं, पर अब विचारना यह है कि महावीर के पहले भी निर्ग्रन्थ-परंपरा तपस्या-प्रधान थी या नहीं?

इसका उत्तर हमें 'हाँ' में ही मिल जाता है, क्योंकि भ॰ महावीर ने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा में ही दीक्षा ली थी और दीक्षा के प्रारम्भ से ही वे तप की ओर झुके थे। इससे पार्श्वापत्यिक-परंपरा का तप की ओर कैसा झुकाव था इसका हमें पता चल जाता है। भ॰ पार्श्वनाथ का जो जीवन जैन ग्रन्थों में वर्णित है उसको देखने से भी हम यही कह सकते हैं कि

---

१. भगवती २. १।

पाश्वनाथ की निग्रन्थ-परपरा तपश्चर्या-प्रधान रही। उस परपरा मे भ० महावीर ने शुद्धि या विकास का तत्त्व अपने जीवन के द्वारा भले ही दाखिल किया हो, पर उन्होंने पहले से चली आनेवाली पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे तपोमार्ग का नया प्रवेश तो नही किया। इसका सबूत हमे दूसरी तरह से भी मिल जाता है।

जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी का वर्णन करते हुए अनेकविध तपस्याओं की नि सारता अपने शिष्यो के सामने कही है वहाँ निग्रन्थ तपस्या का भी निर्देश किया है। बुद्ध ने ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही जन्म लिया था और गृहत्याग करके तपस्वी-मार्ग स्वीकार किया था। उस समय मे प्रचलित अन्यान्य पथो की तरह बुद्ध ने निर्ग्रन्थ पथ को भी थोडे समय के लिए स्वीकार किया था और अपने समय मे प्रचलित निग्रन्थ-तपस्या का आचरण भी किया था। इसीलिए जब बुद्ध अपनी पूर्वाचरित तपस्याओ का वर्णन करते हैं, तब उसमे हूबहू निग्रन्थ-तपस्याओ का स्वरूप भी आता है, जो अभी जैन ग्रन्थो और जैन-परपरा के सिवाय अन्यत्र कही देखने को नहीं मिलता। महावीर के पहले जिस निग्रन्थ-तपस्या का बुद्ध ने अनुष्ठान किया वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा के सिवाय अन्य किसी निग्रन्थ-परपरा की सम्भव नही है, क्योकि महावीर तो अभी मौजूद ही नही थे और बुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु से लेकर उनके साधनास्थल राजगृही, गया, काशी आदि मे पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा का निर्विवाद अस्तित्व और प्राधान्य था। जहाँ बुद्ध ने सर्व प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया वह सारनाथ भी काशी का ही एक भाग है, और वह काशी पार्श्वनाथ की जन्मभूमि तथा तपस्याभूमि रही है। अपनी साधना के समय जो बुद्ध के साथ पाँच दूसरे भिक्षु थे वे बुद्ध को छोडकर सारनाथ—इसिपत्तन मे ही आकर अपना तप करते थे। आश्चर्य नही कि वे पाँच भिक्षु निग्रन्थ-परम्परा के ही अनुगामी हो। कुछ भी हो, पर बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या का, भले ही थोडे समय के लिए, आचरण किया था इसमे कोई सदेह नही है। और वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा की ही हो सकती है। इससे हम यह मान सकते हैं कि ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही निर्ग्रन्थ-परपरा का स्वरूप तपस्या-प्रधान ही था।

नैतिक जीवन तथा प्रज्ञा पर ही मुख्य भार दिया। उनको इसी के द्वारा आध्यात्मिक सुख प्राप्त हुआ और उसी तत्त्व पर अपना नया संघ स्थापित किया।

नए संघ को स्थापित करनेवाले के लिए यह अनिवार्य रूप से जरूरी हो जाता है कि वह अपने आचार-विचार संबन्धी नए सुझाव को अधिक से अधिक लोकग्राह्य बनाने के लिए प्रयत्न करे और पूर्वकालीन तथा समकालीन अन्य सम्प्रदायों के मन्तव्यों की उग्र आलोचना करे। ऐसा किये बिना कोई अपने नये संघ में अनुयायियों को न तो एकत्र कर सकता है और न एकत्र हुए अनुयायियों का स्थिर रख पाता है। बुद्ध के नये संघ की प्रतिस्पर्धी अनेक परंपराएँ मौजूद थीं, जिनमें निग्रन्थ-परम्परा का प्राधान्य जैसा-तैसा न था। सामान्य जनता स्थूलदर्शी होने के कारण बाह्य उग्र तप और देह-दमन से सरलता से तपस्वियों की ओर आकृष्ट होती है, यह अनुभव सनातन है। एक तो, पार्श्वापत्यिक निग्रन्थ परंपरा के अनुयायियों में तपस्या-संस्कार जन्मसिद्ध था और दूसरे, महावीर के तथा उनके निग्रन्थ-संघ के उग्र तपश्चरण के द्वारा साधारण जनता अनायास ही निग्रन्थों के प्रति झुकती ही थी और तपोनुष्ठान के प्रति बुद्ध का शिथिल रुख देखकर उनके सामने प्रश्न कर बैठती थी कि आप तप को क्यों नहीं मानते[1] जबकि सब श्रमण तप पर भार देते हैं? तब बुद्ध को अपने पक्ष की सफाई भी करनी थी और साधारण जनता तथा अधिकारी एवं राजा-महाराजाओं को अपने मंतव्यों की ओर खींचना भी था। इसलिए उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता था कि वे तप की उग्र समालोचना करें। उन्होंने किया भी ऐसा ही। वे तप की समालोचना में सफल तभी हो सकते थे, जब वे यह बतलाएँ कि तप केवल कष्टमात्र है।

उस समय अनेक तपस्वी-मार्ग ऐसे भी थे, जो केवल बाह्य विविध क्लेशों में ही तप की इतिश्री समझते थे। उन बाह्य तपोमार्गों की निःसारता का जहाँ तक संबन्ध है वहाँ तक तो बुद्ध का तपस्या का खंडन

---

१ अंगुत्तर, भा० १, पृ० २२०

यथार्थ है पर जब आध्यात्मिक शुद्धि के साथ सम्बन्ध रखनेवाली तपस्याओं के प्रतिवाद का सवाल आता है तब वह प्रतिवाद न्यायपूर्ण नहीं मालूम होता। फिर भी बुद्ध ने निर्ग्रन्थ-तपस्याओं का खुल्लमखुल्ला अनेक बार विरोध किया है तो इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि बुद्ध ने निर्ग्रन्थ-परम्परा को पूर्णतया लक्ष्य में न लेकर केवल उसके बाह्य तप की ओर ध्यान दिया और दूसरी परम्पराओं के खंडन के साथ निर्ग्रन्थ-परम्परा के तप को भी घसीटा। निर्ग्रन्थ-परम्परा का तात्त्विक दृष्टिकोण कुछ भी क्यों न रहा हो पर मनुष्य-स्वभाव को देखते हुए तथा जैन ग्रन्थों में आनेवाले कतिपय वर्णनों के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि सभी निर्ग्रन्थ-तपस्वी ऐसे नहीं थे जो अपने तप या देहदमन को केवल आध्यात्मिक शुद्धि में ही चरितार्थ करते हों। ऐसी स्थिति में यदि बुद्ध ने तथा उनके शिष्यों ने निर्ग्रन्थ-तपस्या का प्रतिवाद किया तो वह अंशतः सत्य भी कहा जा सकता है।

भगवान महावीर के द्वारा लाई गई विशेषता

दूसरे प्रश्न का जवाब हमें जैन आगमों से ही मिल जाता है। बुद्ध की तरह महावीर भी केवल देहदमन को जीवन का लक्ष्य न समझते थे क्योंकि ऐसे अनेकविध घोर देहदमन करनेवालों को भी महावीर ने तापस या मिथ्या तप करनेवाला कहा है।[1] तपस्या के विषय में भी पार्श्वनाथ की दृष्टि मात्र देहदमन या कायक्लेशप्रधान न होकर आध्यात्मिक शुद्धिलक्षी थी। पर इसमें तो संदेह ही नहीं है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा भी काल के प्रवाह में पड़कर और मानव-स्वभाव की निर्बलता के अधीन होकर आज की महावीर की परम्परा की तरह मुख्यतया देहदमन की ओर ही झुक गई थी और आध्यात्मिक लक्ष्य एक ओर रह गया था।[2] महावीर ने किया सो तो इतना ही है कि उस परम्परागत स्थूल तप का संबंध आध्यात्मिक शुद्धि के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ दिया और कह दिया कि सब प्रकार के कायक्लेश उपवास आदि शरीरेन्द्रियदमन तप हैं, पर वे बाह्य तप हैं आन्तरिक तप

१ उत्तरा० अ० १७।
२ भगवती ३। १। ११ ९।

नही।[1] आन्तरिक व आध्यात्मिक तप तो अन्य ही है, जो आत्मशुद्धि मे अनिवार्य सबन्ध रखते है और ध्यान-ज्ञान आदि रूप हैं। महावीर ने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे चले आनेवाले बाह्य तप को स्वीकार तो किया, पर उसे ज्यो का त्यो स्वीकार नही किया, बल्कि कुछ अश मे अपने जीवन के द्वारा उसमे उग्रता ला करके भी उस देहदमन का सबन्ध आभ्यन्तर तप के साथ जोडा और स्पष्ट रूप से कह दिया कि तप की पूर्णता तो आध्यात्मिक शुद्धि की प्राप्ति से ही हो सकती है। खुद आचरण से अपने कथन को सिद्ध करके जहाँ एक ओर महावीर ने निर्ग्रन्थ परपरा के पूर्वप्रचलित शुष्क देहदमन मे सुधार किया, वहाँ दूसरी ओर अन्य श्रमण-परपराओ मे प्रचलित विविध देहदमनो को भी अपूर्ण तप और मिथ्या तप बतलाया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि तपोमार्ग में महावीर की देन खास है और वह यह कि केवल शरीर और इन्द्रियदमन मे समा जानेवाले तप शब्द के अर्थ को आध्यात्मिक शुद्धि मे उपयोगी ऐसे सभी उपायो तक विस्तृत किया। यही कारण है कि जैन आगमो मे पद-पद पर आभ्यतर और बाह्य दोनो प्रकार के तपों का साथ-साथ निर्देश आता है।

बुद्ध को तप की पूर्व परपरा छोडकर ध्यान-समाधि की परपरा पर ही अधिक भार देना था, जब कि महावीर को तप की पूर्व परपरा बिना छोडे भी उसके साथ आध्यात्मिक शुद्धि का सबन्ध जोडकर ही ध्यान-समाधि के मार्ग पर भार देना था। यही दोनो की प्रवृत्ति और प्ररूपणा का मुख्य अन्तर था। महावीर के और उनके शिष्यो के तपस्वी जीवन का जो समकालीन जनता के ऊपर असर पडता था उससे बाधित होकर के बुद्ध का अपने भिक्षु-सघ मे अनेक कडे नियम दाखिल करने पडे, जो बौद्ध विनय-पिटक को देखने से मालूम हो जाता है।[2] तो भी बुद्ध ने कभी बाह्य तप का पक्षपात नही किया, बल्कि जहाँ प्रसग आया वहाँ उसका परिहास ही किया। खुद बुद्ध की इस शैली को उत्तरकालीन सभी बौद्ध लेखको ने अपनाया है। फलत आज

---

१ उत्तरा० ३।

२ उदाहरणार्थ—वनस्पति आदि के जन्तुओ की हिंसा से बचने के लिए चातुर्मास का नियम—बौद्ध सघनो परिचय (गुजराती) पृ० २२।

हम यह देखते हैं कि बुद्ध का देहदमन-विरोध बौद्ध संघ में सुकुमारता में परिणत हो गया है जबकि महावीर का बाह्य तपोजीवन जैन-परंपरा में केवल देहदमन में परिणत हो गया है जो कि दोनों साम्प्रदायिक प्रकृति के स्वाभाविक दोष हैं, न कि मूलपुरुषों के आदर्श के दोष।

(द. औ. चि. ख. २, पृ. ५३३-५३६)

भगवान महावीर ने तप की शोध कुछ नयी नहीं की थी तप तो उन्हें कुल और समाज की विरासत में से ही मिला था। उनकी शोध यदि हो तो वह इतनी ही कि उन्होंने तप का—कठोर से कठोर तप का देहदमन का और कायक्लेश का आचरण करने पर भी उसमें अन्तर्दृष्टि का समावेश किया अर्थात् बाह्य तप को अन्तर्मुख बनाया। प्रसिद्ध दिगम्बर तार्किक समन्तभद्र की भाषा में कहें तो भगवान महावीर ने कठोरतम तप किया परन्तु इस उद्देश्य से कि उसके द्वारा जीवन में अधिकाधिक आत्मा का सके अभिमानिक गहराई में उतरा जा सके और जीवन का आन्तरिक मैल दूर किया जा सके। इसीलिए जैन तप दो भागों में विभक्त होता है: एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य तप में शरीर से सम्बद्ध और आँखों से देखे जा सके वैसे सभी नियमन आ जाते हैं जबकि आभ्यन्तर तप में जीवनशुद्धि के सभी आवश्यक नियम आ जाते हैं। भगवान दीर्घतपस्वी कहलाये वह मात्र बाह्य तप के कारण नहीं परन्तु उस तप का अन्तर्जीवन में पूर्ण उपयोग करने के कारण ही—यह बात भूलनी नहीं चाहिए।

तप का विकास

भगवान महावीर के जीवन-क्रम में से अनेक परिपक्व फल के रूप में जो हमें विरासत मिली है उसमें तप भी एक वस्तु है। भगवान के पश्चात् आज तक के २५ वर्षों में जैन संघ ने जितना तप का और उसके प्रकारों का सविस्तार विकास किया है उतना दूसरे किसी सम्प्रदाय ने शायद ही किया हो। २५ वर्षों के इस साहित्य में से केवल तप और उसके विधानों के सम्बद्ध साहित्य का अलग छाँटा जाय तो एक खासा अभ्यासयोग्य भाग तैयार हो सकता है। जैन तप केवल ग्रन्थों में ही नहीं रहा बल्कि वह तो चतुर्विध

तप में सजीव और पराक्रमी विविध तपों के प्रकारों का एक प्रतिबिम्बमात्र है। आज भी तप करने में जैन अग्र और अद्वितीय समझे जाते हैं। दूसरी किसी भी बात में जैन समाज दूसरों की अपेक्षा पीछे रह जायें, परन्तु यदि तप की परीक्षा—खास करके उपवास-आयंबिल की परीक्षा—ली जाय तो समग्र देश में आज सम्भवतः सारी दुनिया में पहले नम्बर पर आनेवाले लोगों में जैन पुरुष नहीं तो स्त्रियाँ तो होंगी ही, ऐसा मेरा विश्वास है। तप से सम्बद्ध मनानेवाले उत्सव, उद्यापन और वैसे ही दूसरे उत्तेजक प्रकार आज भी इतने अधिक प्रचलित हैं कि जिस कुटुम्ब ने—खास करके जिस स्त्री ने—तप करके छोटा बड़ा उद्यापन न किया हो उसे एक तरह अपनी कमी महसूस होती है। मुगल सम्राट् अकबर का आकर्षण करनेवाली एक बड़ी तपस्विनी जैन स्त्री ही थी।

परिषह

तप को तो जैन न हो वह भी जानता है, परन्तु परिषहों के बारे में वैसा नहीं है। अजैन के लिए परिषह शब्द कुछ नया-सा लगेगा,[1] परन्तु इसका अर्थ नया नहीं है। घर का त्याग करके भिक्षु बननेवाले को अपने ध्येय की सिद्धि के लिए जो-जो सहन करना पड़ता है वह परिषह है। जैन आगमों में ऐसे जो परिषह गिनाये गये हैं वे केवल साधु-जीवन को लक्ष्य में रखकर ही गिनाये हैं। बारह प्रकार का तप तो गृहस्थ और त्यागी दोनों को उद्दिष्ट करके बतलाया है, परन्तु बाईस परिषह तो त्यागी जीवन को उद्दिष्ट करके ही बतलाये हैं। तप और परिषह ये दो अलग-अलग से दीखते हैं, इनके भेद भी अलग-अलग हैं, फिर भी ये दोनों एक-दूसरे से अलग किये न जा सके ऐसे दो अंकुर हैं।

व्रत-नियम और चारित्र ये दोनों एक ही वस्तु नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान भी दोनों से भिन्न वस्तु है। ऐसा होने पर भी व्रत-नियम, चारित्र और ज्ञान इन तीनों का योग एक व्यक्ति में शक्य है और वैसा योग हो तभी

---

१ बौद्ध पिटकों में 'परिस्सह' के स्थान में 'परिस्सय' शब्द मिलता है। इस अर्थ में 'उपसर्ग' शब्द तो सर्वसाधारण है।—सम्पादक

जीवन का अधिक से अधिक विकास सम्भव है। इतना ही नहीं, उसे योग्य-वाली आत्मा का ही अधिक व्यापक प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, अथवा यों कहो कि वैसा ही मनुष्य दूसरों का नेतृत्व कर सकता है। इसी कारण भगवान ने तप और परिषहों में इन तीन तत्त्वों का समावेश किया है। इन्होंने देखा कि मानव का जीवनपथ लम्बा है, उसका ध्येय अत्यन्त दूर है, वह ध्येय जितना दूर है उतना ही सूक्ष्म है और उस ध्येय तक पहुँचते पहुँचते बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं। उस मार्ग में भीतरी और बाहरी दोनों शत्रु आक्रमण करते हैं। उन पर पूर्ण विजय अकेले व्रतनियम से, अकेले चारित्र से अथवा अकेले तप से सम्भव नहीं। इस तत्त्व का अपने जीवन में अनुभव करने के बाद ही भगवान ने तप और परिषहों की ऐसी व्यवस्था की कि उसमें व्रत-नियम, चारित्र और ज्ञान इन तीनों का समावेश हो जाए। यह समावेश उन्होंने अपने जीवन में प्रकट करके दिखलाया।

जैन तप में क्रियायोग और ज्ञानयोग का सामंजस्य

भारत में तो तप और परिषह की उत्पत्ति त्यागी एवं भिक्षुजीवन में से ही हुई है—यद्यपि इसका प्रचार और प्रभाव तो एक सामान्य गृहस्थ तक भी पहुँचा है। आर्यावर्त के त्यागजीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक शान्ति ही रहा है। आध्यात्मिक शान्ति अर्थात् क्लेशों और विकारों की शान्ति। सब ऋषियों के मत क्लेशों पर विजय ही सच्ची विजय है। इसीलिए महर्षि पतंजलि तप का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि तप क्लेशों को निर्बल करने तथा समाधि के संस्कारों को पुष्ट करने के लिए है। तप को पतंजलि क्रियायोग कहते हैं क्योंकि वे तप में व्रत-नियमों की ही परिगणना करते हैं। इसीलिए उसको ज्ञानयोग से भिन्न क्रियायोग माना गया है। परन्तु जैन तप में क्रियायोग और ज्ञानयोग दोनों आ जाते हैं और यह भी स्मरण में रखना चाहिए कि बाह्य तप तो क्रियायोग ही है, आभ्यन्तर तप मानो ज्ञानयोग की पुष्टि के लिए ही है और वह ज्ञानयोग की पुष्टि के द्वारा ही जीवन के अन्तिम साध्य में उपयोगी है, स्वतन्त्र रूप से नहीं।

(द औ चि भा २ पृ ४४१-४४४)

९

जैन दृष्टि से ब्रह्मचर्यविचार

जैन दृष्टि का स्पष्टीकरण

मात्र तत्त्वज्ञान या मात्र आचार मे जैन दृष्टि परिसमाप्त नही होती। वह तत्त्वज्ञान और आचार उभय की मर्यादा स्वीकार करती है। किसी भी वस्तु के (फिर वह जड हो या चेतन) सभी पक्षो का वास्तविक समन्वय करना—अनेकान्तवाद—जैन तत्त्वज्ञान की मूल नीव है, और रागद्वेष के छोटे-बडे प्रत्येक प्रसग मे अलिप्त रहना—निवृत्ति—समग्र आचार का मूल आधार है। अनेकान्तवाद का केन्द्र मध्यस्थता मे है और निवृत्ति भी मध्यस्थता मे से ही पैदा होती है, अतएव अनेकान्तवाद और निवृत्ति ये दोनो एक-दूसरे के पूरक एव पोषक हैं। ये दोनो तत्त्व जितने अश मे समझे जायें और जीवन मे उतरे उतने अश में जैनधर्म का ज्ञान और पालन हुआ ऐसा कहा जा सकता है।

जैनधर्म का झुकाव निवृत्ति की ओर है। निवृत्ति यानी प्रवृत्ति का विरोधी दूसरा पहलू। प्रवृत्ति का अर्थ है रागद्वेष के प्रसगो मे रत होना। जीवन मे गृहस्थाश्रम रागद्वेष के प्रसगो के विधान का केन्द्र है। अत जिस धर्म मे गृहस्थाश्रम का विधान किया गया हो वह प्रवृत्तिधर्म और जिस धर्म मे गृहस्थाश्रम नही परन्तु केवल त्याग का विधान किया गया हो वह निवृत्तिधर्म। जैनधर्म निवृत्तिधर्म होने पर भी उसका पालन करने-वालों मे जो गृहस्थाश्रम का विभाग है वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वाश मे निवृत्ति प्राप्त करने मे असमर्थ व्यक्ति जितने अशो मे निवृत्ति का सेवन करते हैं उतने अशो मे वे जैन हैं। जिन अशो में निवृत्ति का सेवन न कर सके उन अशों मे अपनी परिस्थिति के अनुसार विवेकदृष्टि से वे प्रवृत्ति की मर्यादा कर सकते हैं, परन्तु उस प्रवृत्ति का विधान जैनशास्त्र

नहीं करता उसका विकास तो मात्र निवृत्ति का है। इसलिए जैनधर्म को विकास की दृष्टि से एकाश्रमी कह सकते हैं। वह एकाश्रम यानी ब्रह्मचर्य और सन्यास आश्रम का एकीकरणरूप त्याग का आश्रम।

इसी कारण जैनाचार के प्राणभूत समझे जानेवाले अहिंसा आदि पांच महाव्रत भी विरमण (निवृत्ति) रूप हैं। गृहस्थ के अणुव्रत भी विरमण रूप हैं। फर्क इतना ही है कि एक में सर्वांश में निवृत्ति है और दूसरे में अल्पांश में। इस निवृत्ति का मुख्य केन्द्र अहिंसा है। हिंसा से सर्वांशतः निवृत्त होने में दूसरे सभी महाव्रत आ जाते हैं। हिंसा के 'प्राणघात' रूप अर्थ की अपेक्षा जैन शास्त्र में उसका बहुत सूक्ष्म और व्यापक अर्थ है। दूसरा कोई जीव दुःखी हो या नहीं परन्तु मलिन वृत्तिमात्र से अपनी आत्मा की शुद्धता नष्ट हो तो भी वह हिंसा है। ऐसी हिंसा में प्रत्येक प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल पापवृत्ति आ जाती है। असत्यभाषण अदत्तादान (चौर्य) अब्रह्म (मैथुन अथवा कामाचार) और परिग्रह—इन सबके पीछे या तो अज्ञान या फिर लोभ क्रोध कुतूहल अथवा भय आदि मलिन वृत्तियाँ प्रेरक होती ही हैं। अतः असत्य आदि सभी प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक ही हैं। ऐसी हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा का पालन है, और ऐसे पालन में स्वाभाविक रूप से दूसरे सब निवृत्तिगामी धर्म आ जाते हैं। जैनधर्म के अनुसार बाकी के सभी विधि-निषेध उक्त अहिंसा के मात्र पोषक अंग ही हैं।

चेतना और पुरुषार्थ आत्मा के मुख्य गुण हैं। इन शक्तियों का दुरुपयोग रोका जाय तभी सदुपयोग की दिशा में उनको मोड़ा जा सकता है। इसीलिए जैनधर्म प्रथम तो दोषविरमण (निषिद्धत्याग) रूप शील का विधान करता है परन्तु चेतना और पुरुषार्थ ऐसे नहीं हैं कि वे मात्र अमुक दिशा में न जाने की निवृत्तिमात्र से निष्क्रिय होकर पड़े रहें। वे तो अपने विकास की भूख दूर करने के लिए गति की दिशा ढूँढ़ते ही रहते हैं। इसीलिए जैनधर्म ने निवृत्ति के साथ ही शुद्ध प्रवृत्ति (विहित आचरणरूप चारित्र) के विधान भी किये हैं। उसने कहा है कि मलिन वृत्ति से आत्मा का घात न होने देना और उसके रक्षण में ही (स्वदया में ही) बुद्धि और पुरुषार्थ का उपयोग करना चाहिए। प्रवृत्ति के इस विधान में से ही सत्यभाषण ब्रह्मचर्य

सन्तोष आदि विधिमार्ग निष्पन्न होते हैं। इतने विवेचन पर से यह ज्ञात होगा कि जैन दृष्टि के अनुसार कामाचार से निवृत्ति तो अहिंसा का मात्र एक अंश है और उस अंश का पालन होते ही उसमें से ब्रह्मचर्य का विधिमार्ग प्रकट होता है। कामाचार से निवृत्ति बीज है और ब्रह्मचर्य उसका परिणाम है।

भगवान महावीर का उद्देश्य उपर्युक्त निवृत्ति धर्म का प्रचार है, इससे उनके उद्देश्य में जातिनिर्माण, समाजसंगठन, आश्रमव्यवस्था आदि को स्थान नहीं है। लोकव्यवहार की चालू भूमिका में से चाहे जो अधिकारी अपनी शक्ति के अनुसार निवृत्ति ले और उसका विकास साधे तथा उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करे—इस एकमात्र उद्देश्य से भगवान महावीर के विधि-निषेध हैं। इसलिए उसमें गृहस्थाश्रम या विवाहसंस्था का विधिविधान न हो यह स्वाभाविक है। विवाहसंस्था का विधान न होने से उससे सम्बन्ध रखनेवाली बातें भी जैन आगमों में नहीं आती।

कुछ मुद्दे

जैन संस्था मुख्य रूप से त्यागियों की संस्था होने से और उसमें कमोवेश मात्रा में त्याग का स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों का प्रमुख स्थान होने से ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखनेवाली पुष्कल जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय मुद्दे लेकर जैन शास्त्रों के आधार पर कुछ लिखने का विचार है। वे मुद्दे इस प्रकार हैं —

(१) ब्रह्मचर्य की व्याख्या, (२) ब्रह्मचर्य के अधिकारी स्त्री-पुरुष, (३) ब्रह्मचर्य के अलग निर्देश का इतिहास, (४) ब्रह्मचर्य का ध्येय और उसके उपाय, (५) ब्रह्मचर्य के स्वरूप की विविधता और उसकी व्याप्ति, (६) ब्रह्मचर्य के अतिचार, (७) ब्रह्मचर्य की निरपवादता।

१ व्याख्या

जैन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की दो व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। पहली व्याख्या बहुत विशाल और सम्पूर्ण है।[1] उस व्याख्या के अनुसार ब्रह्मचर्य यानी

---

१ सूत्रकृतांगसूत्र श्रु० २, अ० ५, गा० १।

जीवनस्पर्शी सम्पूर्ण संयम। इस संयम में मात्र कामवृत्तियों पर अंकुश रखने का—जैन परिभाषा के रूप का आस्रवनिरोध का—ही समावेश नहीं होता परन्तु वैसे सम्पूर्ण संयम में श्रद्धा, ज्ञान तथा आदि स्वाभाविक सद्वृत्तियों के विकास का भी समावेश हो जाता है। इस पहली व्याख्या के अनुसार ब्रह्मचर्य यानी काम क्रोधादि समस्त असद्वृत्ति को जीवन से उन्मूल होने से रोककर श्रद्धा चेतना निर्भयता आदि सद्वृत्तियों को—ऊर्ध्वगामी धर्मों को—जीवन में प्रकट करके उनमें तन्मय होना।

सामान्य लोगों में ब्रह्मचर्य शब्द का जो अर्थ प्रसिद्ध है और जो ऊपर कहे गए सम्पूर्ण संयम का मात्र एक अंश ही है वह अर्थ ब्रह्मचर्य शब्द की दूसरी व्याख्या के जैन शास्त्रों ने भी मान्य रखा है। उस व्याख्या के अनुसार ब्रह्मचर्य यानी मैथुनविरमण अर्थात् कामसंग का—कामाचार का—अब्रह्म का त्याग। इस दूसरे अर्थ में ब्रह्मचर्य का पद इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया है कि ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी कहने से प्रत्येक व्यक्ति उसका अर्थ सामान्यतः इतना ही समझता है कि मैथुनसेवन से दूर रहना ब्रह्मचर्य है और जीवन के दूसरे अंशों में चाहे जितना असंयम होने पर भी मात्र काम सेवन से दूर रहता हो तो वह ब्रह्मचारी है। यह दूसरा अर्थ ही व्रत-नियम स्वीकार करते समय लिया जाता है और इसीलिए जब कोई गृहत्याग करके भिक्षु होता है अथवा घर में रहकर मर्यादित त्याग का स्वीकार करता है, तब ब्रह्मचर्य का नियम अहिंसा के नियम से अलग करके ही लिया जाता है।

२ अधिकारी तथा विविध स्त्री-पुरुष

(क) स्त्री अथवा पुरुष जाति का तनिक भी भेद रखे बिना दोनों को समान रूप से ब्रह्मचर्य के अधिकारी माना है। इसके लिए आयु, देश, काल इत्यादि किसी का प्रतिबन्ध नहीं है। इसके लिए स्मृतियों में भिन्न मत है। उनमें इस प्रकार के समान अधिकारों को अस्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्य

---

१ तत्त्वार्थभाष्य अ ७, सू १।

२ अहिंसा और ब्रह्मचर्य के पालन की प्रक्रिया के लिए देखो परिशिष्ट पृ ८ तथा २१।

की योग्यता सिद्ध करने की बात जैनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा विवाह से पूर्व ही परित्यक्त और बाद में साध्वी बनी राजकुमारी राजीमती ने गिरनार की गुफा के एकान्त में उसके सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मचर्य से चलित होनेवाले साधु और पूर्वाश्रम के अपने देवर रथनेमि को ब्रह्मचर्य में स्थिर होने के लिए जो मार्मिक उपदेश दिया है और रथनेमि को पुनः स्थिर करके स्त्रीजाति पर हमेशा से किये जाते चंचलता और अबलात्व के आरोप को हटाकर और साधकों में जो विशिष्ट प्रख्याति प्राप्त की है उसे सुनने से और पढ़ने से आज भी ब्रह्मचर्य के साधकों को अपूर्व धैर्य प्राप्त होता है।

ब्रह्मचारिणी श्राविका बनने के बाद कोशा वेश्या ने अपने यहाँ आये हुए और चंचल मनवाले भी स्थूलभद्र के गुरुभाई को उपदेश देकर स्थिर करने की जो बात आती है वह पतनशील पुरुष के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा स्त्रीजाति का गौरव बढ़ानेवाली है।

परन्तु इन सबसे अधिक उदात्त दृष्टान्त विजय सेठ और विजया सेठानी का है। ये दोनों दम्पती विवाह के पश्चात् एकशयनशायी होने पर भी अपनी-अपनी शुक्ल और कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्यपालन की पहले की गई भिन्न-भिन्न प्रतिज्ञा के अनुसार उभय प्रसन्नतापूर्वक समग्र जीवनपर्यन्त अविचल रहे और सर्वदा के लिए स्मरणीय बन गये। इस दम्पती की दृढ़ता प्रथम दम्पती और पीछे से भिक्षुक जीवन अंगीकार करनेवाले बौद्ध भिक्षु महाकाश्यप तथा भिक्षुणी भद्रा कपिलानी की अलौकिक दृढ़ता का स्मरण कराती है।[1] ऐसे अनेक आख्यान जैन साहित्य में आते हैं। उनमें ब्रह्मचर्य से चलित होनेवाले पुरुष को स्त्री द्वारा स्थिर कराने के जैसे ओजस्वी दृष्टान्त हैं वैसे ओजस्वी दृष्टान्त चलित होनेवाली स्त्री को पुरुष के द्वारा स्थिर कराने के नहीं हैं अथवा एकदम विरल हैं।

३ ब्रह्मचर्य के अलग निर्देश का इतिहास

जैन परम्परा में चार और पाँच यामों के (महाव्रतों के) अनेक उल्लेख

---

१ देखो 'बौद्ध संघनो परिचय' (गु.) पृ. १९ तथा २७४।

आते हैं। सूत्रो मे आनेवाले वर्णनो[1] पर से ज्ञात होता है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे चार याम (महाव्रत) का प्रचार था और श्री महावीर भगवान ने उनमे एक याम (महाव्रत) बढाकर पचयामिक धर्म का उपदेश दिया। आचारागसूत्र मे धर्म के तीन याम[2] भी कहे गये है। उसकी व्याख्या देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि तीन याम की परम्परा भी जैन-सम्मत होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी जमाने मे जैन परम्परा मे (१) हिंसा का त्याग, (२) असत्य का त्याग, और (३) परिग्रह का त्याग—ये तीन ही याम थे। पीछे से उसमे चौर्य के त्याग का समावेश करके तीन के चार याम हुए और अन्त में कामाचार के त्याग को जोडकर भगवान महावीर ने चार के पाँच याम किये। इस प्रकार भगवान महावीर के समय मे और उन्हीं के श्रीमुख मे उपदिष्ट ब्रह्मचर्य का पृथक्त्व जैन परम्परा मे प्रसिद्ध है। जिस समय तीन या चार याम थे उस समय भी पालन तो पाँच का होता था, उस समय के विचक्षण और सरल मुमुक्षु चौर्य और कामाचार को परिग्रहरूप समझ लेते और परिग्रह के त्याग के साथ ही उन दोनो का त्याग भी अपने आप हो जाता। पार्श्वनाथ की परम्परा तक तो कामाचार का त्याग परिग्रह के त्याग मे ही आ जाता, फलत उसका अलग विधान नही हुआ था, परन्तु इस प्रकार के कामाचार के त्याग के अलग विधान के अभाव मे श्रमण सम्प्रदाय मे ब्रह्मचर्य मे शैथिल्य आया और कई तो वैसे अनिष्ट वातावरण मे फँसने भी लगे। इसीसे भगवान महावीर ने परिग्रहत्याग मे समाविष्ट होनेवाले कामाचार त्याग का भी एक खास महाव्रत के रूप मे अलग उपदेश किया।

४ ब्रह्मचर्य का ध्येय और उसके उपाय

जैनधर्म मे अन्य सभी व्रत-नियमों की भाँति ब्रह्मचर्य का साध्य भी केवल मोक्ष है। जगत की दृष्टि से महत्त्व की मानी जानेवाली चाहे जो बात ब्रह्मचर्य से सिद्ध हो सकती हो, तो भी यदि उससे मोक्ष की साधना

---

१ स्थानागसूत्र पृ० २०१।

२ आचारागसूत्र श्रु० १, अ० ८, उ० १।

स्त्री की जाति, कुल, रूप और वेश आदि का वर्णन या विवेचन नहीं करना।

(३) स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना। जिस आसन पर स्त्री बैठी हो उस पर भी उसके उठने के बाद दो घड़ी तक नहीं बैठना।

(४) स्त्रियों के मनोहर नयन, नासिका आदि इन्द्रियों का अथवा उनके अंगोपांगों का अवलोकन नहीं करना और उनके बारे में चिन्तन-स्मरण भी नहीं करना।

(५) स्त्रियों के रतिप्रसंग के अव्यक्त शब्द, रतिकलह के शब्द, गीत-ध्वनि, हास्य की किलकारियाँ, क्रीडा के शब्द और विरहकालीन रुदन के शब्द पर्दे के पीछे छिपकर अथवा दीवार की आड में रहकर भी नहीं सुनना।

(६) पूर्व में अनुभूत, आचरित या सुनी गई रतिक्रीडा, कामक्रीडा आदि को याद नहीं करना।

(७) धातुवर्धक पौष्टिक भोजनपान नहीं लेना।

(८) सादा भोजनपान भी मात्रा से अधिक नहीं लेना।

(९) शृंगार नहीं करना अर्थात् कामराग के उद्देश्य से स्नान, विलेपन, धूप, माल्य, विभूषण अथवा वेश इत्यादि की रचना नहीं करना।

(१०) जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श कामगुण के ही पोषक हों उनका त्याग करना।

इनके अतिरिक्त कामोद्दीपक हास्य न करना, स्त्रियों के चित्र न रखना और न देखना, अब्रह्मचारी का संसर्ग न करना इत्यादि ब्रह्मचारी के लिए अनाचरणीय दूसरी अनेक प्रकार की क्रियाओं का इन दस स्थानों में समावेश किया गया है।

सूत्रकार कहते हैं कि पूर्वोक्त निषिद्ध प्रवृत्तियों में से कोई भी प्रवृत्ति करनेवाला ब्रह्मचारी अपना ब्रह्मचर्य तो गँवायेगा ही, साथ ही उसे कामजन्य मानसिक और शारीरिक रोगों के होने की भी संभावना रहती है।

५ ब्रह्मचर्य के स्वरूप की विविधता और उसकी व्याप्ति

ऊपर दी गई दूसरी व्याख्या के अनुसार 'कामसंग का त्याग' रूप ब्रह्मचर्य का जो भाव सामान्य लोग समझते हैं उसकी अपेक्षा बहुत सूक्ष्म और व्यापक भाव जैन शास्त्रों में लिया गया है। जब कोई व्यक्ति जैनधर्म की मुनि-दीक्षा लेता है तब उस व्यक्ति के द्वारा ली जानेवाली पाँच प्रतिज्ञाओं में से

भीष्मी प्रतिज्ञा के रूप मे ऐसे नाव के ब्रह्मचर्य का स्वीकार किया जाता है। यह प्रतिज्ञा इस प्रकार है : हे पूज्य गुरो ! मैं सर्व मैथुन का परित्याग करता हूँ अर्थात् दैवी मानुषी या तिर्यंच (पशु-पक्षी सम्बन्धी) किसी प्रकार के मैथुन का मैं मन से वाणी से और शरीर से जीवनपर्यन्त सेवन नहीं करूँगा तथा मन से वचन से और शरीर तीनो प्रकार से दूसरो से जीवनपर्यन्त सेवन नहीं कराऊँगा और दूसरा कोई मैथुन का सेवन करता होगा तो उसमे मैं इन्ही तीनो प्रकार से जीवनपर्यन्त अनुमति भी नही दूंगा।

यद्यपि मुनिदीक्षा मे स्थानप्राप्त उपर्युक्त नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य ही दूसरी व्याख्या द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य का अन्तिम और सम्पूर्ण स्वरूप है तथापि सबसे एक ही प्रकार के ब्रह्मचर्य का बरबस से पालन कराने का दुराग्रह अथवा मिथ्या आशा जैन आचार्यों ने कभी नहीं रखी। पूर्ण शक्ति सम्पन्न व्यक्ति हो तो ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण आदर्श कायम रह सकता है परन्तु असमर्थित अथवा अल्पशक्तिवाला व्यक्ति हो तो पूर्ण आदर्श के नाम पर दम्भ का प्रचलन न हो इस स्पष्ट उद्देश्य से शक्ति एवं भावना की न्यूनाधिक योग्यता ध्यान मे रखकर, जैन आचार्यों ने अपूर्ण ब्रह्मचर्य का भी उपदेश दिया है। जैसे सम्पूर्णता मे भेद के लिए अवकाश को स्थान नही है वैसे अपूर्णता मे अभेद की सम्भवता ही नही है। इससे अपूर्ण ब्रह्मचर्य के अनेक प्रकार हो और उनके कारण उसके व्रत-नियमो की प्रतिज्ञाएँ भी भिन्न-भिन्न हो यह स्वाभाविक है। ऐसे अपूर्ण ब्रह्मचर्य के उनचास प्रकारो की जैन शास्त्रो मे कल्पना की गई है अधिकारी अपनी शक्ति के अनुसार उनमे से नियम ग्रहण करता है। मुनिदीक्षा के सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेने मे असमर्थ और फिर भी वैसी प्रतिज्ञा के आदर्श को पसन्द करके उस दिशा मे प्रगति करने की इच्छावाले गृहस्थ साधक अपनी-अपनी शक्ति एवं रुचि के अनुसार उन उनचास प्रकारो मे से किसी-न-किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य का नियम ले सके वैसी विविध प्रतिज्ञाएँ जैन शास्त्रो मे आती है। इस प्रकार वास्तविक और आदर्श ब्रह्मचर्य मे भेद न होने पर भी व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उनके स्वरूप की विविधता का जैनशास्त्रों मे अतिविस्तारपूर्वक वर्णन आता है।

सर्वब्रह्मचर्य नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य है और देशब्रह्मचर्य आंशिक ब्रह्मचर्य

है। उसका अधिक स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार है मन, वचन और शरीर इनमे से प्रत्येक के द्वारा सेवन न करना, सेवन न कराना और सेवन करनेवाले को अनुमति न देना—इस नौ कोटि से सर्वब्रह्मचारी कामाचार का त्याग करता है। साधु अथवा साध्वी तो ससार का त्याग करते ही इन नौ कोटियो से पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम लेते हैं और गृहस्थ भी इसका अधिकारी हो सकता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की इन नौ कोटियो के अतिरिक्त इनमे से प्रत्येक कोटि को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की भी मर्यादा होती है। वह प्रत्येक मर्यादा क्रमश इस प्रकार है किसी भी सजीव अथवा निर्जीव आकृति के साथ नौ कोटि से कामाचार का निषेध द्रव्यमर्यादा है। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक तथा तिर्यग्लोक इन तीनो मे नौ कोटि से कामाचार का त्याग क्षेत्रमर्यादा है। दिन मे, रात्रि मे अथवा इस समय के किसी भी भाग मे इन्ही नौ कोटि से कामचार का निषेध कालमर्यादा है और राग अथवा द्वेष से अर्थात् माया, लोभ, द्वेष अथवा अहकार के भाव मे कामाचार का नौ कोटि से त्याग भाव-मर्यादा है। आंशिक ब्रह्मचर्य का अधिकारी गृहस्थ ही होता है। उसे अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व भी होना है और पशुपक्षी के पालन की भी चिन्ता होती है। उसे विवाह करने-कराने के तथा पशु-पक्षी को गर्भाधान कराने के प्रसग आते ही रहते है। इसीलिए गृहस्थ इन नौ कोटियो के साथ ब्रह्मचर्य का पालन बहुत विरल रूप मे ही कर सकता है। आगे जो नौ कोटियाँ कही हैं उनमे से मन, वचन और शरीर से अनुमति देने की तीन कोटि उसके लिए नही होती, अर्थात् उसका उत्तम ब्रह्मचर्य अवशिष्ट छ कोटि से लिया हुआ होता है। आंशिक ब्रह्मचर्य लेने की छः पद्धतियाँ ये हैं—

(१) द्विविध त्रिविध से, (२) द्विविध द्विविध से, (३) द्विविध एकविध से, (४) एकविध त्रिविध से, (५) एकविध द्विविध से, (६) एकविध एकविध से। इनमें से कोई एक प्रकार गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार ब्रह्मचर्य के लिए स्वीकार करता है। द्विविध मे अर्थात् करना और कराना इस अपेक्षा से और त्रिविध यानी मन, वचन और शरीर से, अर्थात् मन से करने कराने का त्याग, वचन से करने-कराने का त्याग

चौथी प्रतिज्ञा के रूप में ऐसे भाव के ब्रह्मचर्य का स्वीकार किया जाता है। यह प्रतिज्ञा इस प्रकार है : हे पूज्य गुरो ! मैं सर्व मैथुन का परित्याग करता हूँ, *अर्थात् दैवी, मानुषी या तिर्यंच (पशु-पक्षी सम्बन्धी) किसी प्रकार* के मैथुन का मैं मन से, वाणी से और शरीर से जीवनपर्यन्त सेवन नहीं करूँगा तथा मन से, वचन से और शरीर तीनों प्रकार से दूसरों से जीवनपर्यन्त सेवन नहीं कराऊँगा और दूसरा कोई मैथुन का सेवन करता होगा तो उसमें मैं इन्हीं तीनों प्रकार से जीवनपर्यन्त अनुमति भी नहीं दूंगा।

यद्यपि मुनिदीक्षा में स्वीकार्य उपर्युक्त नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य ही दूसरी व्याख्या द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य का अन्तिम और सम्पूर्ण स्वरूप है, तथापि सबके एक ही प्रकार से ब्रह्मचर्य का हरएक से पालन कराने का दुराग्रह अथवा मिथ्या आशा जैन आचार्यों ने कभी नहीं रखी। पूर्ण शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति हो तो ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण आदर्श कायम रह सकता है परन्तु अल्पशक्ति अथवा अल्पशक्तिवाला व्यक्ति हो तो पूर्ण आदर्श के नाम पर दम्भ का प्रचलन न हो इस स्पष्ट उद्देश्य से शक्ति एवं भावना की न्यूनाधिक योग्यता ध्यान में रखकर, जैन आचार्यों ने असम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का भी उपदेश दिया है। जैसे सम्पूर्णता में भेद के लिए अवकाश की स्थान नहीं है वैसे असम्पूर्णता में अभेद की सम्भावना ही नहीं है। अतः अपूर्ण ब्रह्मचर्य के अनेक प्रकार हों और उनके कारण उसके भिन्न-भिन्न की प्रतिज्ञाएँ भी भिन्न-भिन्न हों यह स्वाभाविक है। ऐसे असम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के उत्थान प्रकारों की जैन शास्त्रों में कल्पना की गई है। अधिकारी अपनी शक्ति के अनुसार उनमें से नियम ग्रहण करता है। मुनिदीक्षा के सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेने में असमर्थ और फिर भी वैसी प्रतिज्ञा के आदर्श को पसन्द करके उस दिशा में प्रगति करने की इच्छावाले गृहस्थ साधक अपनी-अपनी शक्ति एवं रुचि के अनुसार इन उत्थान प्रकारों में से किसी-न-किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य का नियम ले सकें वैसी विविध प्रतिज्ञाएँ जैन शास्त्र में आती हैं। इस प्रकार तात्त्विक और आदर्श ब्रह्मचर्य में भेद न होने पर भी व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उसके स्वरूप की विविधता का जैनशास्त्रों में अतिविस्तारपूर्वक वर्णन आता है।

सर्वब्रह्मचर्य नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य है और देशब्रह्मचर्य आंशिक ब्रह्मचर्य

अहिंसा का पालक किसी खास विशिष्ट लाभ के उद्देश्य से हिंसा की प्रवृत्ति करे तो भी उसके व्रत का भंग नहीं माना जाता। कई प्रसंग ही ऐसे हैं, जिनके कारण वह अहिंसादि हिंसा न करे या हिंसा में प्रवृत्त न हो तो उसे विराधक माना है।[1] यानी जैन आज्ञा का लोपक। ऐसी ही स्थिति सत्यव्रत और अस्तेय आदि व्रतों में भी घटाई जाती है। परन्तु ब्रह्मचर्य में तो ऐसा एक भी अपवाद नहीं है। जिसने जिस प्रकार का ब्रह्मचर्य स्वीकार किया हो वह उसका निरपवाद रूप से वैसा ही आचरण करे।

दूसरे के आध्यात्मिक हित को दृष्टि लक्ष्य में रखकर अहिंसादि का अपवाद करनेवाला तटस्थ या वीतराग रह सकता है, ब्रह्मचर्य के अपवाद में ऐसा सम्भव ही नहीं है। वैसा प्रसंग तो राग, द्वेष एवं मोह के ही अधीन है। इसके अतिरिक्त वैसा कामाचार का प्रसंग किसी के आध्यात्मिक हित के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता। इसी वजह से ब्रह्मचर्य के पालन का निरपवाद विधान किया गया है और उसके लिए प्रत्येक प्रकार के उपाय भी बतलाये गये हैं। ब्रह्मचर्य का भंग करनेवाले के लिए प्रायश्चित्त तो कठोर हैं ही, परन्तु उसमें भी जो जितने ऊँचे पद पर रहकर ब्रह्मचर्य की विराधना करता है उसके लिए उसके पद के अनुसार तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम प्रायश्चित्त कहा है, जैसे कि—कोई साधारण क्षुल्लक साधु अज्ञान और मोहवश ब्रह्मचर्य की विराधना करे तो उसका प्रायश्चित्त उसके क्षुल्लक अधिकार के अनुसार निश्चित किया है, परन्तु कोई गीतार्थ (सिद्धान्त का पारगामी और सर्वमान्य) आचार्य वैसी भूल करे तो उसका प्रायश्चित्त उस क्षुल्लक साधु की अपेक्षा अनेकगुना अधिक कहा गया है। लोगों में भी यही न्याय प्रचलित है। कोई एकदम सामान्य मनुष्य ऐसी भूल करे तो समाज उस तरफ लगभग उदासीन-सा रहता है, परन्तु कोई कुलीन और आदर्श कोटि का मनुष्य ऐसे प्रसंग पर साधारण-सी भूल भी करे तो समाज उसे कभी सहन नहीं करता।[2]

(द०अ०चिं०भा०१,पृ०५०७-५१५, ५१७-५२१, ५२४-५२७,५३३-५३४)

---

१ तिलकाचार्यकृत जीतकल्पवृत्ति पृ० ३५-३६।

२ इस लेख के सहलेखक पं० श्री बेचरदास दोशी भी हैं।

और शरीर में अग्नि-जगाने का त्याग। यह प्रथम पद्धति है। इसी प्रकार इतर सब पद्धतियों के बारे में समझ लेना।

६. ब्रह्मचर्य के अतिचार

किसी भी प्रतिज्ञा के चार दूषण होते हैं। उनमें क्रमिक दृष्टि से दूषितता का तारतम्य माना गया है। ये चार प्रतिज्ञा के बाधक तो हैं ही, परन्तु व्यवहार तो प्रतिज्ञा के पूर्ण भंग को ही भंग मानता है। इन चार के नाम तथा स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिज्ञा का अतिक्रम करना अर्थात् प्रतिज्ञा के भंग का मानसिक संकल्प करना।

(२) प्रतिज्ञा का व्यतिक्रम करना अर्थात् वैसे संकल्प की सहायक सामग्री का जुटाने की योजना करना।

ये दोनों दूषणयुक्त होने पर भी व्यवहार इन दोनों को क्षम्य गिनता है अर्थात् मनुष्य की अपूर्ण भूमिका तथा उसके आसपास के वातावरण को देखते हुए ये क्षमा योग्य गिने जा सकते हैं।

(३) परन्तु जिस प्रवृत्ति के कारण व्यवहार में भी ली हुई प्रतिज्ञा का आंशिक भंग माना जाय अर्थात् जिस प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य का बाह्य व्यवहार में दूषित माना जाय वैसी प्रवृत्ति त्याज्य मानी गई है। वैसी प्रवृत्ति का ही नाम अतिचार अथवा दोष है। यह तीसरा दोष माना जाता है।

(४) अनाचार अर्थात् प्रतिज्ञा का सर्वथा नाश। यह महादोष है।

शास्त्रकार कहते हैं कि गृहस्थ के शील के पाँच अतिचार हैं (१) इत्वरपरिगृहीतागमन (२) अपरिगृहीतागमन (३) अनंगक्रीडा (४) परविवाहकरण (५) कामभोगों में तीव्र अभिलाषा।

ये पाँचों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्वदारसन्तोषी गृहस्थ के शील के लिए दूषणरूप हैं। कोई भी गृहस्थ स्वदारसन्तोष व्रत के प्रति पूर्ण रूप से वफादार रहे, तो इन पाँचों में से एक भी प्रवृत्ति का वह कभी आचरण नहीं कर सकता।

७. ब्रह्मचर्य की निरपवादता

अहिंसा सत्य अस्तेय आदि महाव्रत सापवाद हैं परन्तु मात्र एक ब्रह्मचर्य ही निरपवाद है। अहिंसा व्रत सापवाद है अर्थात् सर्व प्रकार के

आध्यात्मिक क्या है? इत्यादि कुछ प्रश्नों के ऊपर विचार करना आवश्यक है।

'आवश्यक क्रिया' की प्राचीन विधि कहाँ सुरक्षित है?

परन्तु इसके पहिले यहाँ एक बात बतला देना जरूरी है और वह यह है कि 'आवश्यक-क्रिया' करने की जो विधि चूर्णि के जमाने में भी बहुत प्राचीन थी और जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि जैसे प्रतिष्ठित आचार्य ने अपनी आवश्यक-वृत्ति पृ० ७९० में किया है, वह विधि बहुत अंशों में अपरिवर्तित रूप से ज्यों की त्यों जैसी श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में चली आती है, वैसी स्थानकवासी-सम्प्रदाय में नहीं है। यह बात तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों की सामाचारी देखने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। स्थानकवासी-सम्प्रदाय की सामाचारी में जिस प्रकार 'आवश्यक-क्रिया' में बोले जानेवाले कई प्राचीन सूत्रों की, जैसे—पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं, अरिहंतचेइयाणं, आयरियउवज्झाए, अब्भुट्ठियोऽहं इत्यादि की काट-छाँट कर दी गई है, इसी प्रकार उसमें प्राचीन विधि की भी काट-छाँट नजर आती है। इसके विपरीत तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि की सामाचारी में 'आवश्यक' के प्राचीन सूत्र तथा प्राचीन विधि में कोई परिवर्तन किया हुआ नजर नहीं आता। अर्थात् उसमें 'सामायिक-आवश्यक' से लेकर यानी प्रतिक्रमण की स्थापना से लेकर 'प्रत्याख्यान' पर्यन्त के छहों 'आवश्यक' के सूत्रों का तथा बीच में विधि करने का सिलसिला बहुधा वही है, जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि ने किया है।

'आवश्यक' किसे कहते हैं?

जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसी को 'आवश्यक' कहते हैं। 'आवश्यक-क्रिया' सब के लिए एक नहीं, वह अधिकारी-भेद से जुदी-जुदी है। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' का स्वरूप लिखने के पहले यह बतला देना जरूरी है कि इस जगह किस प्रकार के अधिकारियों का आवश्यक-कर्म विचारा जाता है।

सामान्यरूप से शरीर-धारी प्राणियों के दो विभाग हैं (१) बहिर्दृष्टि, और (२) अन्तर्दृष्टि। जो अन्तर्दृष्टि हैं—जिनकी दृष्टि आत्मा

: १ :

आवश्यक क्रिया

वैदिकसमाज में 'सन्ध्या' का, पारसी लोगों में 'खोरदेह अवेस्ता' का, यहूदी तथा ईसाइयों में 'प्रार्थना' का और मुसलमानों में 'नमाज' का जैसा महत्त्व है, जैन समाज में वैसा ही महत्त्व 'आवश्यक' का है।

साधुओं को तो सुबह-शाम अनिवार्य रूप से 'आवश्यक' करना ही पड़ता है, क्योंकि शास्त्र में ऐसी आज्ञा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु 'आवश्यक' नियम से करें। अतएव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करें तो साधु-पद के अधिकारी ही नहीं समझे जा सकते।

श्रावकों में 'आवश्यक' का प्रचार वैकल्पिक है। अर्थात् जो भावुक और नियमवाले होते हैं, वे अवश्य करते हैं और अन्य श्रावकों की प्रवृत्ति इस विषय में ऐच्छिक है। फिर भी यह देखा जाता है कि जो नित्य 'आवश्यक' नहीं करता, वह भी पक्ष के बाद, चतुर्मास के बाद या आखिरकार संवत्सर के बाद उसको यथासम्भव अवश्य करता है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में 'आवश्यक-क्रिया' का इतना आदर है कि जो व्यक्ति अन्य किसी समय धर्मस्थान में न जाता हो, वह तथा छोटे-बड़े बालक बालिकायें भी बहुधा सांवत्सरिक पर्व के दिन धर्मस्थान में 'आवश्यक-क्रिया' करने के लिए एकत्र हो ही जाते हैं और उस क्रिया को करके सभी अपना अहोभाग्य समझते हैं। इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि 'आवश्यक-क्रिया' का महत्त्व श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में कितना अधिक है। इसी सबब से सभी लोग अपनी सन्तति को धार्मिक शिक्षा देते समय सबसे पहिले 'आवश्यक-क्रिया' सिखाते हैं।

'आवश्यक-क्रिया' किसे कहते हैं? सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का क्या स्वरूप है? उनके भेद-क्रम की उपपत्ति क्या है? 'आवश्यक-क्रिया'

द्वारा या चारित्र द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है। चारित्र-सामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से (१) देश और (२) सर्व, यों दो प्रकार का है। देश सामायिक-चारित्र गृहस्थों का और सर्वसामायिक-चारित्र साधुओं का होता है।[१] समता, सम्यक्त्व, शान्ति, सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं।[२]

(२) चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुणसम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना स्तव है। इसके (१) द्रव्य और (२) भाव, ये दो भेद हैं। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरों की पूजा करना 'द्रव्यस्तव' और उनके वास्तविक गुणों का कीर्तन करना 'भावस्तव' है।[३] अधिकारी-विशेष गृहस्थ के लिए द्रव्यस्तव कितना लाभदायक है, इस बात का विस्तारपूर्वक आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० (४९२-४९३) में दिखाया है।

(३) वंदन—मन, वचन, शरीर का वह व्यापार वंदन है, जिससे पूज्यों के प्रति बहुमान प्रकट किया जाता है। शास्त्र में वन्दन के चिति-कर्म, कृति-कर्म, पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं।[४] वंदन के यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वंद्य कैसे होने चाहिए? वे कितने प्रकार के हैं? कौन-कौन अवंद्य हैं? अवंद्य-वंदन से क्या दोष है? वंदन करने समय किन-किन दोषों का परिहार करना चाहिए, इत्यादि बातें जानने योग्य हैं।

द्रव्य और भाव, उभय चारित्रसम्पन्न मुनि ही वन्द्य हैं।[५] वन्द्य मुनि (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर और (५) रत्नाधिक रूप से पाँच प्रकार के हैं।[६] जो द्रव्यलिङ्ग और भाव-लिङ्ग एक-एक से या दोनों से रहित है, वह अवन्द्य है। अवन्दनीय तथा वन्दनीय के सबन्ध में सिक्के की चतुर्भङ्गी प्रसिद्ध है।[७] जैसे चाँदी शुद्ध हो

१ वही गाथा ७९६।
२ वही गाथा १०३३।
३ आवश्यकवृत्ति पृ० ४९२।
४ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११०३।
५ वही गाथा ११०६।
६ वही गाथा ११९५।
७ आवश्यकनियुक्ति गाथा ११३८।

द्वारा या चारित्र द्वारा ही समभाव मे स्थिर रहा जा सकता है। चारित्र-सामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से (१) देश और (२) सर्व, यों दो प्रकार का है। देश सामायिक-चारित्र गृहस्थों को और सर्वसामायिक-चारित्र साधुओं को होता है।[१] समता, सम्यक्त्व, शान्ति, सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं।[२]

(२) चतुर्विंशतिस्तव—चौवीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुणसम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति करने रूप है। इनके (१) द्रव्य और (२) भाव, ये दो भेद है। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरो की पूजा करना 'द्रव्यस्तव' और उनके वास्तविक गुणो का कीर्तन करना 'भावस्तव' है।[३] अधिकारी-विशेष गृहस्थ के लिए द्रव्यस्तव कितना लाभदायक है, इस बात को विस्तारपूर्वक आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० (४९२-४९३) मे दिखाया है।

(३) वंदन—मन, वचन शरीर का वह व्यापार वंदन है, जिसमे पूज्यो के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। शास्त्र मे वंदन के चिति-कर्म, कृति-कर्म, पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध है।[४] वंदन के यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वंद्य कैसे होने चाहिए? वे कितने प्रकार के हैं? कौन-कौन अवंद्य हैं? अवंद्य-वंदन से क्या दोष है? वंदन करते समय किन-किन दोषो का परिहार करना चाहिए, इत्यादि बातें जानने योग्य है।

द्रव्य और भाव, उभय चारित्रसम्पन्न मुनि ही वन्द्य हैं।[५] वन्द्य मुनि (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर और (५) रत्नाधिक रूप से पाँच प्रकार के हैं।[६] जो द्रव्यलिङ्ग और भाव-लिङ्ग एक-एक से या दोनो से रहित है, वह अवन्द्य है। अवन्दनीय तथा वन्दनीय के सबन्ध मे सिक्के की चतुर्भङ्गी प्रसिद्ध है।[७] जैसे चाँदी शुद्ध हो

१ वही गाथा ७९६।
२ वही गाथा १०३३।
३ आवश्यकवृत्ति पृ० ४९२।
४ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११०३।
५ वही गाथा ११०६।
६ वही गाथा ११९५।
७ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ११३८।

पर मोहर ठीक न लगी हो तो वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। वैसे ही जो भावलिंगयुक्त है, पर द्रव्यलिंगविहीन है उन प्रत्येकबुद्ध आदि को वन्दन नहीं किया जाता। जिस सिक्के पर मोहर तो ठीक लगी है, पर चाँदी अशुद्ध है, वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। वैसे ही द्रव्यलिंगधारी होकर जो भावलिंगविहीन हैं वे पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के कुसाधु अवन्दनीय हैं। जिस सिक्के की चाँदी और मोहर, ये दोनों ठीक नहीं हैं, वह भी अग्राह्य है। इसी तरह जो द्रव्य और भाव उभयलिंगरहित हैं वे वन्दनीय नहीं। वन्दनीय सिर्फ वे ही हैं जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहरवाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव—उभयलिंग सम्पन्न हैं।

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करनेवाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। बल्कि असंयम आदि दोषों के अनुमोदन द्वारा कर्मबन्ध होता है। अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करनेवाले को ही दोष होता है यही बात नहीं, किन्तु अवन्दनीय की आत्मा का भी गुणी पुरुषों के द्वारा अपने को वन्दन कराने रूप असंयम की वृद्धि द्वारा अधःपात होता है। वन्दन बत्तीस दोषों से रहित होना चाहिए। अनादृत आदि वे बत्तीस दोष आवश्यकनिर्युक्ति गा० १२०७-१२११ में बतलाए हैं।

(५) प्रतिक्रमण—प्रमादवश शुभ योग से गिरकर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करना यह 'प्रतिक्रमण' है। तथा अशुभ योग को छोड़कर उत्तरोत्तर शुभ योग में वर्तना यह भी 'प्रतिक्रमण' है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधि ये सब

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ११३८।

२ वही गाथा ११०८।

३ वही गाथा ११११।

४ स्वस्थानाद्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१॥—आवश्यकसूत्र पृ० ५५३

५ प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत् तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥१॥
—आवश्यकसूत्र, पृ० ५५३।

प्रतिक्रमण के समानार्थक शब्द हैं।[1] इन शब्दों का भाव समझाने के लिए प्रत्येक शब्द की व्याख्या पर एक-एक दृष्टान्त दिया गया है, जो बहुत मनोरंजक है।[2] प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है—एक स्थिति में जाकर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।

(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक, (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक, ये प्रतिक्रमण के पाँच भेद बहुत प्राचीन तथा शास्त्रसम्मत हैं, क्योंकि इनका उल्लेख श्री भद्रबाहुस्वामी भी करते हैं।[3] कालभेद से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण भी बतलाया है—(१) भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना, (२) संवर करके वर्तमान काल के दोषों से बचना, और (३) प्रत्याख्यान द्वारा भविष्यके दोषों को रोकना प्रतिक्रमण है।[4]

उत्तरोत्तर आत्मा के विशेष शुद्ध स्वरूप में स्थित होने की इच्छा करनेवाले अधिकारियों को यह भी जानना चाहिये कि प्रतिक्रमण किस-किस का करना चाहिए।

(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) कषाय और (४) अप्रशस्त योग—इन चार का प्रतिक्रमण करना चाहिए। अर्थात् मिथ्यात्व छोड़कर सम्यक्त्व को पाना चाहिए, अविरति का त्याग कर विरति का स्वीकार करना चाहिये, कषाय का परिहार करके क्षमा आदि गुणप्राप्त करने चाहिये और संसार बढ़ानेवाले व्यापारों को छोड़कर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए।

सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यों दो प्रकार का है। भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्यप्रतिक्रमण नहीं। द्रव्य-प्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिए किया जाता है। दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार-बार सेवन करना, यह द्रव्य प्रतिक्रमण है। इससे आत्मा शुद्ध होने के बदले ढिठाई द्वारा और भी

१ आवश्यकनियुक्ति गाथा १२३३।
२ वही, गाथा १२४२।
३ वही, गाथा १२४७।
४ आवश्यकवृत्ति पृ० ५५१।

दोनों की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्तनों का चक्कर द्वारा बार बार फेरकर बार-बार माटी मांजनेवाले एक तत्त्वज्ञ-साधु का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

(५) कायोत्सर्ग—धर्म या शुक्ल-ध्यान के लिए एकाग्र होकर शरीर पर से ममता का त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग को यथार्थ रूप में करने के लिए इसके दोषों का परिहार करना चाहिए। वे घोटक आदि दोष संक्षेप में उन्नीस हैं।

कायोत्सर्ग से देह की और बुद्धि की जड़ता दूर होती है अर्थात् वात आदि धातुओं की विषमता दूर होती है और बुद्धि की मन्दता दूर होकर विचारशक्ति का विकास होता है। सुख-दुःख की तितिक्षा अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के संयोगों में समभाव से रहने की शक्ति कायोत्सर्ग से प्रकट होती है। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अतिचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग में ठीक-ठीक हो सकता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है। कायोत्सर्ग के अन्दर किये जानेवाले एक श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण श्लोक के एक पाद के उच्चारण के काल-परिमाण जितना कहा गया है।

(६) प्रत्याख्यान—त्याग करने को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। त्यागने योग्य वस्तुएँ (१) द्रव्य और (२) भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न वस्त्र आदि बाह्य वस्तुएँ द्रव्यरूप हैं और अज्ञान असंयम आदि वैभाविक परिणाम भावरूप हैं। अन्न वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का त्याग अज्ञान असंयम आदि के त्याग द्वारा भावत्यागपूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से ही होना चाहिए। जो द्रव्यत्याग भावत्यागपूर्वक तथा भावत्याग के लिए नहीं किया जाता उससे आत्मा को गुण-प्राप्ति नहीं होती।

(१) श्रद्धान (२) ज्ञान (३) वन्दन (४) अनुपालन (५) अनुभाषण और (६) भाव इन छः शुद्धियों के सहित किया जानेवाला प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १५४८, १५५० ।
२ आवश्यक वृत्ति पृ. ८४७ ।

प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुण धारण है, सो इसलिए कि उससे अनेक गुण प्राप्त होते हैं। प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। संवर से तृष्णा का नाश, तृष्णा के नाश से निरुपम समभाव और ऐसे समभाव से क्रमशः मोक्ष का लाभ होता है।

क्रम की स्वाभाविकता तथा उपपत्ति

जो अन्तर्दृष्टिवाले हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव-सामायिक प्राप्त करना है। इसलिए उनके प्रत्येक व्यवहार में समभाव का दर्शन होता है। अन्तर्दृष्टिवाले जब किसी को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं। इस तरह वे समभाव-स्थित साधु पुरुषों का वन्दन-नमस्कार करना भी नहीं भूलते। अन्तर्दृष्टिवालों के जीवन में ऐसी स्फूर्ति—अप्रमत्तता होती है कि कदाचित् वे पूर्ववासनावश या कुसंसर्गवश समभाव से गिर जाएँ, तब भी उस अप्रमत्तता के कारण प्रतिक्रमण करके वे अपनी पूर्व-प्राप्त स्थिति को फिर पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व-स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं। ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन के विकास की कुंजी है। इसके लिए अन्तर्दृष्टिवाले बार-बार ध्यान—कायोत्सर्ग किया करते हैं। ध्यान द्वारा चित्तशुद्धि करते हुए वे आत्मस्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव जड वस्तुओं के भोग का परित्याग—प्रत्याख्यान भी उनके लिए साहजिक क्रिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि आध्यात्मिक पुरुषों के उच्च तथा स्वाभाविक जीवन का पृथक्करण ही 'आवश्यक-क्रिया' के क्रम का आधार है।

'आवश्यक-क्रिया' की आध्यात्मिकता

जो क्रिया आत्मा के विकास को लक्ष्य में रखकर की जाती है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। आत्मा के विकास का मतलब उसके सम्यक्त्व, चेतन, चारित्र आदि गुणों की क्रमशः शुद्धि करने से है। इस कसौटी पर कसने से यह अभ्रान्त रीति से सिद्ध होता है कि 'सामायिक' आदि छहों 'आव-

स्पर्श आध्यात्मिक है, क्योंकि सामायिक का फल पापजनक व्यापार की निवृत्ति है जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का कारण है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुण प्राप्त करना है जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन है।

वन्दन-क्रिया के द्वारा विनय की प्राप्ति होती है, मान खण्डित होता है, गुरुजन की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो कि अन्त में आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा मोक्ष के कारण होते हैं। वन्दन करनेवालों को नम्रता के कारण शास्त्र सुनने का अवसर मिलता है। शास्त्र-श्रवण द्वारा क्रमशः ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया और सिद्धि ये फल बतलाए गए हैं। इसलिए वन्दन-क्रिया आत्मा के विकास का असंदिग्ध कारण है।

आत्मा वस्तुतः पूर्ण शुद्ध और पूर्ण बलवान है, पर वह विविध वासनाओं के अनादि प्रवाह में पड़ने के कारण दोषों की अनेक तहों से दब-सा गया है; इसलिए जब वह ऊपर उठने का प्रयत्न करता है, तब उससे अनादि अभ्यास-वश भूल हो जाना सहज है। वह जब-तक उन भूलों का संशोधन न करे, तब तक इष्ट सिद्धि हो ही नहीं सकती। इसलिए पद-पद पर की हुई भूलों को याद करके प्रतिक्रमण द्वारा फिर से वैसा न करने के लिए वह निश्चय कर लेता है। इस तरह से प्रतिक्रमण-क्रिया का उद्देश्य पूर्व दोषों को दूर करना और फिर से वैसे दोषों को न करने के लिए सावधान कर देना है, जिससे कि आत्मा दोषमुक्त होकर धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाय। इसीसे प्रतिक्रमण-क्रिया आध्यात्मिक है।

कायोत्सर्ग चित्त की एकाग्रता पैदा करता है और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है, जिससे आत्मा निर्भय बनकर अपने कठिनतम उद्देश्य को सिद्ध कर सकती है। इसी कारण कायोत्सर्ग-क्रिया भी आध्यात्मिक है।

दुनिया में जो कुछ है, वह सब न तो भोगा ही जा सकता है और न

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२१५ तथा वृत्ति।

भोगने के योग्य ही है तथा वास्तविक शान्ति अपरिमित भोग से भी सम्भव नही है। इसलिए प्रत्याख्यान-क्रिया के द्वारा मुमुक्षुगण अपने को व्यर्थ के भोगो से बचाते हैं और उसके द्वारा चिरकालीन आत्मशान्ति पाते हैं। अतएव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक ही है।

प्रतिक्रमण शब्द की रूढि

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति+क्रमण=प्रतिक्रमण' ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ 'पीछे फिरना', इतना ही होता है, परन्तु रूढि के बल से 'प्रतिक्रमण' शब्द सिर्फ चौथे 'आवश्यक' का तथा छह आवश्यक के समुदाय का भी बोध कराता है। अन्तिम अर्थ मे उस शब्द की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई है कि आजकल 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके सब कोई छहो आवश्यको के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द काम मे लाते हैं। इस तरह व्यवहार मे और अर्वाचीन ग्रन्थो मे 'प्रतिक्रमण' शब्द से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थो मे सामान्य 'आवश्यक' अर्थ मे 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग कही देखने मे नही आया। 'प्रतिक्रमणहेतुगर्भ, 'प्रतिक्रमणविधि', 'धर्मसग्रह' आदि अर्वाचीन ग्रन्थो मे 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ मे प्रयुक्त है और सर्वसाधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ मे प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग अस्खलित रूप से करते हुए देखे जाते हैं।

(द० औ० चि० ख० २ पृ० १७४-१८५)

११

जीव और पंच परमेष्ठी का स्वरूप

प्र०—परमेष्ठी कौन कहलाते हैं ?

उ०—जो जीव परम में अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप में—समभाव में स्थित् अर्थात् स्थित हैं वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं।

प्र०—परमेष्ठी और उनसे भिन्न जीवों में क्या अन्तर है ?

उ०—अन्तर आध्यात्मिक विकास होने न होने का है। अर्थात् जो आध्यात्मिक-विकासवाले व निर्मल आत्मशक्तिवाले हैं वे परमेष्ठी और जो मलिन आत्मशक्ति वाले हैं वे उनसे भिन्न हैं।

प्र०—जो इस समय परमेष्ठी नहीं हैं, क्या वे भी साधनों द्वारा आत्मा को निर्मल बनाकर वैसे बन सकते हैं ?

उ०—अवश्य।

प्र०—तब तो जो परमेष्ठी नहीं हैं और जो हैं उनमें शक्ति की अपेक्षा से भेद क्या हुआ ?

उ०—कुछ भी नहीं। अन्तर सिर्फ शक्तियों के प्रकट होने-न होने का है। एक में आत्मशक्तियों का विशुद्ध रूप प्रकट हो गया है, दूसरे में नहीं।

जीव के सम्बन्धमें कुछ विचारणा

जीव का सामान्य लक्षण

प्र०—जब निश्चय में सब जीव समान ही हैं, तब उन सबका सामान्य स्वरूप (लक्षण) क्या है ?

उ०—रूप रस गन्ध स्पर्श आदि पौद्गलिक गुणों का न होना और चेतना का होना यह सब जीवों का सामान्य लक्षण है।

प्र०—उक्त लक्षण तो अतीन्द्रिय—इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकने वाला—है फिर उसके द्वारा जीवों की पहिचान कैसे हो सकती है ?

उ०—निश्चय-दृष्टि से जीव अतीन्द्रिय है, इसलिए उसका लक्षण अतीन्द्रिय होना ही चाहिए।

प्र०—जीव तो आँख आदि इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, फिर जीव अतीन्द्रिय कैसे ?

उ०—शुद्ध रूप अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से जीव अतीन्द्रिय है। अशुद्ध रूप अर्थात् विभाव की अपेक्षा से वह इन्द्रियगोचर भी है। अमूर्तत्व—रूप, रस आदि का अभाव या चेतनाशक्ति, यह जीव का स्वभाव है, और भाषा, आकृति, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि जीव के विभाव अर्थात् कर्मजन्य पर्याय हैं। स्वभाव पुद्गल-निरपेक्ष होने के कारण अतीन्द्रिय है और विभाव पुद्गल-सापेक्ष होने के कारण इन्द्रियग्राह्य है। इसलिये स्वाभाविक लक्षण की अपेक्षा से जीव को अतीन्द्रिय समझना चाहिए।

प्र०—अगर विभाव का सबन्ध जीव से है, तो उसको लेकर भी जीव का लक्षण किया जाना चाहिए।

उ०—किया ही है, पर वह लक्षण सब जीवों का नहीं होगा, सिर्फ ससारी जीवों का होगा। जैसे जिनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भाव हों या जो कर्म के कर्ता और कर्म-फल के भोक्ता और शरीरधारी हों वे जीव हैं।

प्र०—उक्त दोनो लक्षणों को स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

उ०—प्रथम लक्षण स्वभावस्पर्शी है, इसलिए उसको निश्चय नय की अपेक्षा से तथा पूर्ण व स्थायी समझना चाहिये। दूसरा लक्षण विभावस्पर्शी है, इसलिए उसको व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए। सारांश यह है कि पहला लक्षण निश्चय-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनों काल में घटनेवाला है और दूसरा लक्षण व्यवहार-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनों काल में नहीं घटनेवाला है। अर्थात् ससारदशा में पाया जानेवाला और मोक्षदशा में नही पाया जानेवाला है।

प्र०—उक्त दो दृष्टि से दो लक्षण जैसे जैनदर्शन में किये गए हैं, क्या वैसे जैनेतर दर्शनों में भी हैं ?

उ०—हाँ, साङ्ख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा को चेतन-रूप या सच्चिदानन्दरूप कहा है, सो निश्चय नय की अपेक्षा से, और न्याय,

वैशेषिक आदि दर्शनों में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के लक्षण बतलाए हैं सो व्यवहारनय की अपेक्षा से।

प्र०—क्या जीव और आत्मा इन दोनों शब्दों का मतलब एक है?

उ०—हाँ, जैनशास्त्र में तो संसारी-असंसारी सभी चेतनों के विषय में 'जीव और आत्मा' इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर वेदान्त आदि दर्शनों में जीव का मतलब संसार-अवस्थावाले ही चेतन से है, मुक्त चेतन से नहीं और आत्मा शब्द तो साधारण है।

जीव के स्वरूप की अनिर्वचनीयता

प्र०—आपने तो जीव का स्वरूप कहा, पर कुछ विद्वानों को यह कहते सुना है कि आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय अर्थात् वचनों से नहीं कहे जा सकने योग्य है, सो इसमें तत्त्व क्या है?

उ०—उनका भी कथन युक्त है, क्योंकि शब्दों के द्वारा परिमित भाव प्रगट किया जा सकता है। यदि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया जानना हो तो वह अपरिमित होने के कारण शब्दों के द्वारा किसी तरह नहीं बताया जा सकता। इसलिए इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इस बात को जैसे अन्य दर्शनों में 'निर्विकल्प' शब्द से या 'नेति' शब्द से कहा है वैसे ही जैनदर्शन में 'सरा तत्थ नियट्टंति तक्का तत्थ न विज्जइ' (आचारांग ५ ६) इत्यादि शब्द से कहा है। यह अनिर्वचनीयत्व का कथन परम निश्चय नय से या परम शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से समझना चाहिए। और हमने जो जीव का चेतना या अमूर्तत्व लक्षण कहा है सो निश्चय दृष्टि से या शुद्ध पर्यायार्थिक नय से।

जीव स्वयंसिद्ध है या भौतिक मिश्रणों का परिणाम?

प्र०—सुनने व पढ़ने में आता है कि जीव एक रासायनिक वस्तु है, अर्थात् भौतिक मिश्रणों का परिणाम है, वह कोई स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी। इसमें क्या सत्य है?

उ०—ऐसा कथन भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष-शोक आदि वृत्तियाँ जो मन से सम्बन्ध रखती हैं, वे स्थूल या सूक्ष्म

भौतिक वस्तुओ के आलम्बन से होती हैं। भौतिक वस्तुएँ उन वृत्तियो के होने मे साधनमात्र अर्थात् निमित्तकारण है, उपादानकारण नही। उनका उपादानकारण आत्मतत्त्व अलग ही है। इसलिए भौतिक वस्तुओ को उक्त वृत्तियो का उपादानकारण मानना भ्रान्ति है। ऐसा न मानने मे अनेक दोष आते हैं। जैसे सुख, दु:ख, राजा-रकभाव, छोटी-बडी आयु, सत्कार-तिरस्कार, ज्ञान-अज्ञान आदि अनेक विरुद्ध भाव एक ही माता-पिता की दो सन्तानो मे पाए जाते है, सो जीव को स्वतन्त्र तत्त्व बिना माने किसी तरह असन्दिग्ध रीति से घट नही सकता।

प्र०—जीव के अस्तित्व के विषय मे अपने को किस सबूत पर भरोसा करना चाहिए ?

उ०—अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक चिरकाल तक आत्मा का ही मनन करनेवाले नि स्वार्थ ऋषियो के वचन पर, तथा स्वानुभव पर। और चित्त को शुद्ध करके एकाग्रतापूर्वक विचार व मनन करने से ऐसा अनुभव प्राप्त हो सकता है।

पच परमेष्ठी

पच परमेष्ठी के प्रकार

प्र०—क्या सब परमेष्ठी एक ही प्रकार के है या उनमे कुछ अन्तर भी है ?

उ०—सब एक प्रकार के नही होते। स्थूल दृष्टि से उनके अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच प्रकार है। स्थूलरूप मे इनका अन्तर जानने के लिए इनके दो विभाग करने चाहिए। पहले विभाग मे प्रथम दो और दूसरे विभाग मे पिछले तीन परमेष्ठी सम्मिलित है, क्योकि अरिहन्त और सिद्ध ये दोनो तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि शक्तियो को शुद्ध रूप मे पूरे तौर से विकसित किये हुए होते है, पर आचार्यादि तीन उक्त शक्तियो को पूर्णतया प्रकट किए हुए नही होते, किन्तु उनको प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील होते है। अरिहन्त और सिद्ध ये दो ही केवल पूज्य अवस्था को प्राप्त हैं, पूजक अवस्था को नही। इसीसे ये देवतत्त्व माने जाते हैं। इसके विपरीत आचार्य आदि तीन पूज्य, पूजक, इन दोनो अव-

स्थानों को प्राप्त हैं। वे अपने से नीचे की श्रेणियों के पूज्य और ऊपर की श्रेणियों के पूजक हैं। इसी से 'गुरु' तत्त्व माने जाते हैं।

अरिहन्त और सिद्ध का आपस में अन्तर

प्र०—अरिहन्त तथा सिद्ध का आपस में क्या अन्तर है ?

उ०—सिद्ध शरीररहित अतएव पौद्गलिक सब पर्यायों से परे होते हैं पर अरिहन्त ऐसे नहीं होते। उनके शरीर होता है, इसलिए मोह, अज्ञान आदि नष्ट हो जाने पर भी वे चलने फिरने बोलने आदि शारीरिक वाचिक तथा मानसिक क्रियाएँ करते रहते हैं।

सारांश यह है कि ज्ञान चारित्र आदि शक्तियों के विकास की पूर्णता अरिहन्त-सिद्ध दोनों में बराबर होती है। पर सिद्ध योग (शारीरिक आदि क्रिया) रहित और अरिहन्त योगसहित होते हैं। जो पहिले अरिहन्त होते हैं वे ही शरीर त्यागने के बाद सिद्ध कहलाते हैं।

आचार्य आदि का आपस में अन्तर

प्र०—आचार्य आदि तीनों का आपस में क्या अन्तर है ?

उ०—इसी तरह (अरिहन्त और सिद्ध की भाँति) आचार्य उपाध्याय और साधुओं में साधु के गुण सामान्य रीति से समान होते पर भी साधु की अपेक्षा उपाध्याय और आचार्य में विशेषता होती है। वह यह कि उपाध्यायपद के लिए सूत्र तथा अर्थ का वास्तविक ज्ञान पढ़ाने की शक्ति वचन-मधुरता और चर्चा करने का सामर्थ्य आदि कुछ खास गुण प्राप्त करना जरूरी है पर साधुपद के लिए इन गुणों की कोई खास जरूरत नहीं है। इसी तरह आचार्यपद के लिए शासन चलाने की शक्ति गच्छ के हिताहित की जवाबदेही अति गम्भीरता और देश-काल का विशेष ज्ञान आदि गुण चाहिए। साधुपद के लिए इन गुणों को प्राप्त करना कोई खास जरूरी नहीं है। साधुपद के लिए जो सत्ताईस गुण जरूरी हैं वे तो आचार्य और उपाध्याय में भी होते हैं पर इनके अलावा उपाध्याय में पच्चीस और आचार्य में छत्तीस गुण होने चाहिए अर्थात् साधुपद की अपेक्षा उपाध्याय-पद का महत्त्व अधिक और उपाध्यायपद की अपेक्षा आचार्यपद का महत्त्व अधिक है।

अरिहन्त की अलौकिकता

जैसे अरिहन्त की ज्ञान आदि आन्तरिक शक्तियाँ अलौकिक होती हैं वैसे ही उनकी बाह्य अवस्था मे भी क्या हम मे कुछ विशेषता हो जाती है ?

उ०—अवश्य ! भीतरी शक्तियाँ परिपूर्ण हो जाने के कारण अरिहन्त का प्रभाव इतना अलौकिक बन जाता है कि साधारण लोग इस पर विश्वास भी नही कर सकते। अरिहन्त का सारा व्यवहार लोकोत्तर होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जाति के जीव अरिहन्त के उपदेश को अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेते हैं। साँप, न्यौला, चूहा, बिल्ली, गाय, बाघ आदि जन्म-शत्रु प्राणी भी समवसरण मे वैर-द्वेष-वृत्ति छोड़कर भ्रातृ-भाव धारण करते हैं। अरिहन्त के वचन मे जो पैंतीस गुण होते हैं वे औरों के वचन मे नही होते। जहाँ अरिहन्त विराजमान होते है वहाँ मनुष्य आदि की कौन कहे, करोड़ो देव हाजिर होते, हाथ जोड़े खड़े रहते, भक्ति करते और अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यों की रचना करते है। यह सब अरिहन्त के परम योग की विभूति है।

प्र०—ऐसा मानने मे क्या युक्ति है ?

उ०—अपने को जो बाते असम्भव-सी मालूम होती हैं वे परमयोगियो के लिए साधारण है। एक जगली भील को चक्रवर्ती की सम्पत्ति का थोड़ा भी ख्याल नही आ सकता। हमारी और योगियो की योग्यता मे ही बड़ा फर्क है। हम विषय के दास, लालच के पुतले और अस्थिरता के केन्द्र हैं। इसके विपरीत योगियो के सामने विषयो का आकर्षण कोई चीज नही, लालच उनको छूता तक नही, वे स्थिरता मे सुमेरु के समान होते हैं। हम थोड़ी देर के लिए भी मन को सर्वथा स्थिर नही रख सकते, किसी के कठोर-वाक्य को सुनकर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं, मामूली चीज गुम हो जाने पर हमारे प्राण निकलने लग जाते हैं, स्वार्थान्धता से औरो की कौन कहे भाई और पिता तक भी हमारे लिये शत्रु बन जाते हैं। परम-योगी इन सब दोषो से सर्वथा अलग होते हैं। जब उनकी आन्तरिक दशा इतनी उच्च हो तब उक्त प्रकार की लोकोत्तर स्थिति होने मे कोई अचरज नही। साधारण योगसमाधि करनेवाले महात्माओ की और उच्च चरित्रवाले साधारण लोगों की भी महिमा जितनी देखी जाती है उस पर

विचार करने से अरिहन्त जैसे परम योगी की लोकोत्तर विभूति में सन्देह नहीं रहता।

व्यवहार एवं निश्चय-दृष्टि से पाँचों का स्वरूप

प्र०—व्यवहार (बाह्य) तथा निश्चय (आभ्यन्तर) दोनों दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप किस-किस प्रकार का है?

उ०—उक्त दोनों दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। उनके लिये जो निश्चय है वही व्यवहार है, क्योंकि सिद्ध अवस्था में निश्चय व्यवहार की एकता हो जाती है। पर अरिहन्त के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। अरिहन्त सशरीर होते हैं इसलिए उनका व्यावहारिक स्वरूप तो बाह्य विभूतियों से सम्बन्ध रखता है और नैश्चयिक स्वरूप आन्तरिक शक्तियों के विकास से। इसलिए निश्चयदृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप समान समझना चाहिए।

प्र०—उक्त दोनों दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप किस-किस प्रकार का है?

उ०—निश्चयदृष्टि से तीनों का स्वरूप एक-सा होता है। तीनों में मोक्षमार्ग के आराधन की तत्परता और बाह्य-आभ्यन्तर-निर्ग्रन्थता आदि नैश्चयिक और पारमार्थिक स्वरूप समान होता है। पर व्यावहारिक स्वरूप तीनों का थोड़ा-बहुत भिन्न होता है। आचार्य की व्यावहारिक योग्यता सबसे अधिक होती है क्योंकि उन्हें गच्छ पर शासन करने तथा जैन शासन की महिमा को सम्हालने की जवाबदेही लेनी पड़ती है। उपाध्याय को आचार्य पद के योग्य बनने के लिये कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पड़ते हैं, जो सामान्य साधुओं में नहीं भी होते।

नमस्कार का हेतु व उसके प्रकार

प्र०—परमेष्ठियों को नमस्कार किसलिए किया जाता है? नमस्कार के कितने प्रकार हैं?

उ०—गुणप्राप्ति के लिए। वे गुणवान् हैं, गुणवानों को नमस्कार करने से गुण की प्राप्ति अवश्य होती है, क्योंकि जैसा ध्येय हो ध्याता वैसा ही

बन जाता है। दिन-रात चोर और चोरी की भावना करनेवाला मनुष्य कभी प्रामाणिक (साहूकार) नहीं बन सकता। इसी तरह विद्या और विद्वान् की भावना करनेवाला अवश्य कुछ-न-कुछ विद्या प्राप्त कर लेता है। बड़ों के प्रति ऐसा बर्ताव करना कि जिससे उनके प्रति अपनी लघुता तथा उनका बहुमान प्रकट हो, वही नमस्कार है। इसके द्वैत और अद्वैत, ऐसे दो भेद हैं। विशिष्ट स्थिरता प्राप्त न होने से जिस नमस्कार में ऐसा भाव हो कि मैं उपासना करनेवाला हूँ और अमुक मेरी उपासना का पात्र है, वह द्वैत-नमस्कार है। रागद्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है जिसमें आत्मा अपने को ही अपना उपास्य समझता है और केवल स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत-नमस्कार है। इन दोनों में अद्वैत-नमस्कार श्रेष्ठ है, क्योंकि द्वैत-नमस्कार तो अद्वैत का साधनमात्र है।

प्र०—मनुष्य की अन्तरंग भावभक्ति के कितने भेद हैं?

उ०—दो: एक सिद्ध-भक्ति और दूसरी योग-भक्ति। सिद्धों के अनन्त गुणों की भावना भाना सिद्ध-भक्ति है और योगियों (मुनियों) के गुणों की भावना भाना योगि-भक्ति।

प्र०—पहिले अरिहन्तों को और पीछे सिद्धादिकों को नमस्कार करने का क्या सबब है?

उ०—वस्तु को प्रतिपादन करने के क्रम दो होते हैं। एक पूर्वानुपूर्वी और दूसरा पश्चानुपूर्वी। प्रधान के बाद अप्रधान का कथन करना पूर्वानुपूर्वी है और अप्रधान के बाद प्रधान का कथन करना पश्चानुपूर्वी है। पाँचों परमेष्ठियों में 'सिद्ध' सबसे प्रधान हैं और 'साधु' सबसे अप्रधान, क्योंकि सिद्ध-अवस्था चैतन्य-शक्ति के विकास की आखिरी हद है और साधु-अवस्था उसके साधन करने की प्रथम भूमिका है। इसलिए यहाँ पूर्वानुपूर्वी क्रम से नमस्कार किया गया है। यद्यपि कर्म-विनाश की अपेक्षा से 'अरिहन्तों' से 'सिद्ध' श्रेष्ठ हैं, तो भी कृतकृत्यता की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं और व्यवहार की अपेक्षा से तो 'सिद्ध' से 'अरिहन्त' ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि 'सिद्धों' के परोक्ष स्वरूप को बतलानेवाले 'अरिहन्त' ही तो

है। इसलिए व्यवहार-अपेक्षया 'अरिहन्तों' को श्रेष्ठ गिनकर पहिले उनको नमस्कार किया गया है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५११-५१२)

देव, गुरु और धर्म तत्त्व

जैन परम्परा में तात्त्विक धर्म तीन तत्त्वों में समाविष्ट माना जाता है: देव, गुरु और धर्म। आत्मा की सम्पूर्ण निर्दोष अवस्था देवतत्त्व है; वैसी निर्दोषता प्राप्त करने की सच्ची आध्यात्मिक साधना गुरुतत्त्व है और सब प्रकार का विवेकी यथार्थ संयम धर्मतत्त्व है। इन तीन तत्त्वों को जैनत्व की आत्मा और इन तत्त्वों की संरक्षक एवं पोषक भावना को उसका शरीर कहना चाहिए। देवतत्त्व को स्थूल रूप देनेवाला मन्दिर, उसमें रही हुई मूर्ति, उसकी पूजा-आरती, उस संस्था को निभानेवाले साधन, उसकी व्यवस्था करनेवाला तन्त्र, तीर्थस्थान—ये सब देवतत्त्व की पोषक भावनारूपी शरीर के वस्त्र और अलंकार जैसे हैं। इसी प्रकार मकान, खाने-पीने और रहने आदि के नियम तथा दूसरे विधिविधान गुरुतत्त्व के शरीर के वस्त्र या अलंकार हैं। अमुक चीज नहीं खाना, अमुक ही खाना, अमुक परिमाण में खाना, अमुक समय पर नहीं खाना, अमुक स्थान पर अमुक ही हो सकता है, अमुक के प्रति अमुक ढंग से ही बरतना चाहिए इत्यादि विधि-निषेध के नियम संयमतत्त्व के वस्त्र अथवा बाने हैं।

(द० औ० चि० भा० १, पृ० ५६)

१२

कर्मतत्त्व

कर्मवादियो का ऐसा सिद्धान्त है कि जीवन केवल वर्तमान जन्म मे ही पूरा नही होता, वह तो पहले भी था और आगे भी चलता रहेगा। कोई भी अच्छा या बुरा, स्थूल या सूक्ष्म, शारीरिक या मानसिक परिणाम जीवन मे ऐसा उत्पन्न नही होता, जिसका बीज उस व्यक्ति ने वर्तमान अथवा पूर्वजन्म मे बोया न हो।

कर्मवाद की दीर्घ दृष्टि

ऐसा एक भी स्थूल या सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक या कायिक कर्म नही है, जो इस या दूसरे जन्म मे परिणाम उत्पन्न किये बिना विलीन हो जाय। कर्मवादी की दृष्टि दीर्घ इसलिए है कि वह तीनो कालो का स्पर्श करती है, जबकि चार्वाक की दृष्टि दीर्घ नही है, क्योकि वह मात्र वर्तमान का स्पर्श करती है। कर्मवाद की इस दीर्घ दृष्टि के साथ उसके वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और विश्वीय उत्तरदायित्व तथा नैतिक बन्धनो मे, चार्वाक की अल्प दृष्टि मे से फलित होनेवाले उत्तरदायित्व और नैतिक बन्धनो की अपेक्षा, बहुत बडा अन्तर पड जाता है। यदि यह अन्तर बराबर समझ लिया जाय और उसका अंश भी जीवन मे उतरे, तब तो कर्मवादियो का चार्वाक पर किया जाना आक्षेप सच्चा समझा जायगा और चार्वाक के धर्मध्येय की अपेक्षा कर्मवादी का धर्मध्येय उन्नत और ग्राह्य है ऐसा जीवनव्यवहार से बताया जा सकता है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ५९)

शास्त्रो के अनादित्व की मान्यता

जैन वाङ्मय मे इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र मौजूद है उनमे से प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थो का साक्षात्

सम्बन्ध दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व के साथ बतलाती हैं। दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वों में से दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराएँ समान रूप से मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीर की सर्वज्ञ वाणी का साक्षात् फल है। इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यता के अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङ्मय शब्दरूप से नहीं तो अन्ततः भावरूप से भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश का ही परम्परा-प्राप्त सारमात्र है। इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूप से केवल भगवान् महावीर की ही पूर्वकालीन नहीं बल्कि पूर्व-पूर्व में हुए अन्यान्य तीर्थङ्करों से भी पूर्वकाल की अतएव एक तरह से अनादि हैं। प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होनेवाले नव-नव तीर्थङ्करों के द्वारा वे पूर्व-पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं। इसी मान्यता को प्रकट करते हुए कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में नैयायिक जयन्त भट्ट का अनुकरण करके बड़ी खूबी से कहा है कि— 'अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रौषीः न कदाचिदनीदृशं जगत्।' अनादिकालीन ये विद्याएँ संक्षेप अथवा विस्तारपूर्वक विवरण करने की इच्छा से नया-नया स्वरूप धारण करती हैं और विवरण करनेवाले की कृति रूप से पहिचानी जाती हैं। क्या ऐसा नहीं सुना कि दुनिया जो सदा से ऐसी ही चली आती है?

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता ऐसी है कि जिसको साम्प्रदायिक लोग आज तक अक्षरशः मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदों के अनादित्व की मान्यता का। साम्प्रदायिक लोगों में पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता का आदरणीय स्थान होने पर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्व के सम्बन्ध में एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करना प्राप्त है। वह दृष्टि है ऐतिहासिक।

कर्मतत्त्व की आवश्यकता क्यों ?

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार

पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टि में इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाधित न था, जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चार्वाक परम्परा के नाम से विख्यात हुआ। पर साथ ही उस अति पुराने युग में भी ऐसे चिन्तक थे, जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है। इतना ही नहीं, बल्कि इस दृश्यमान लोक के अलावा और भी श्रेष्ठ-कनिष्ठ लोक है। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे ही पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप से कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का संबन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधार पर कर्मतत्त्व का स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

धर्म, अर्थ और काम को ही माननेवाले प्रवर्तक-धर्मवादी पक्ष

कर्मवादियों के मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ठ परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिए। यह दल परलोकवादी होने से तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूप से धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से, धर्म-अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थों को मानता था। उसकी दृष्टि में मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप से स्थान न था। जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दल के मन्तव्य का सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेप में यह है कि धर्म—शुभ कर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभ कर्म का फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हीं के द्वारा जन्म-जन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो, तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं

विहित आचरणों से धर्म की उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर सब तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही संकेत करता था। यही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मोक्षपुरुषार्थी निवर्तक-धर्मवादी पक्ष

कर्मवादियों का दूसरा दल उपर्युक्त दल से बिलकुल विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मों के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है पर वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्न से वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक-धर्म का उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मत का सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्म निवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध ही कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष हैं। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यों न हो, पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेषमूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टिवालों के लिए है। तत्त्वतः पुण्य और पाप अज्ञान एवं राग-द्वेषमूलक होने से अधर्म एवं हेय ही हैं। यह निवर्तक-धर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्तिविकासवादी रहा।

जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इसे कर्म के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणों पर भी विचार करना पड़ा। इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किये वही इस दल का निवर्तकधर्म है। प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा बिलकुल परस्पर विरुद्ध है। एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और

सुव्यवस्था का निर्माण है, जबकि दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव वह मात्र आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामो से प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग्-ज्ञान और राग-द्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयम के ही साधनरूप से माने गए।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी विचार और उसका ज्ञाता वर्ग

निवर्तक धर्मवादियो को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनो के विषय मे तो ऊहापोह करना ही पड़ता था, पर इसके साथ उनको कर्मतत्त्वो के विषय मे भी बहुत विचार करना पड़ा। उन्होंने कर्म तथा उसके भेदो की परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ स्थिर की, कार्य और कारण की दृष्टि से कर्म-तत्त्व का विविध वर्गीकरण किया, कर्म की फलदान-शक्तियो का विवेचन किया, जुदे-जुदे विपाको की काल-मर्यादाएँ सोची, कर्मो के पारस्परिक संबंध पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तक धर्मवादियो का खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित हो गया और उसमे दिन प्रतिदिन नए-नए प्रश्नो और उनके उत्तरो के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तकधर्मवादी जुदे-जुदे पक्ष अपने सुभीते के अनुसार जुदा-जुदा विचार करते रहे, पर जब तक इन सब का सम्मिलित ध्येय प्रवर्तक-धर्मवाद का खण्डन रहा तब तक उनमे विचार-विनिमय भी होता रहा और उनमे एकवाक्यता भी रही। यही सबब है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन के कर्मविषयक साहित्य मे परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दत और अर्थत साम्य बहुत-कुछ देखने मे आता है।

मोक्षवादियो के सामने एक जटिल समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने बद्धकर्म ही अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमश फल भोगने के समय प्रत्येक क्षण मे नए-नए भी कर्म बंधते हैं, फिर इन सब कर्मो का सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है? इस समस्या का हल भी मोक्षवादियो ने बड़ी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य मे उस हल का वर्णन संक्षेप

या विचार में स्थान पाते हैं। यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि सभी निवर्तकवादियों के भिन्न-भिन्न पक्षों के मूल किसी एक निवर्तक दर्शन था। पर जब मूल होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया जब कि वे निवर्तकवादी पक्ष आपस में प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी उनमें सब पक्ष कर्मतत्त्व के विषय में उपरागात्मक ही रहा। इस बीच में ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष में एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया जो मोक्षसंबंधी प्रश्नों की अपेक्षा कर्म के विषय में ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन अध्यापन करता था जैसा कि अन्य-अन्य विषय के खास चिन्तकवर्ग अपने-अपने विषय के किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्र का चिन्तकवर्ग जैन दर्शन का कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्मतत्त्व के विचार की प्राचीनता और समानता

कर्म के बन्धक कारणों तथा उनके उच्छेदक उपायों के बारे में तो सब मोक्षवादी गौण-मुख्यभाव से एकमत ही हैं पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्ग का जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मीमांसक नैयायिक वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतन-धर्म बतलाते थे जब कि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जडधर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अपनी जुदी प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड उभय के परिणाम रूप से उभयरूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्य के प्राकृत अन्तःकरण की तरह संकोच-विकासशील था जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड परमाणुओं के साथ एकरस भी हो सकता है। वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतनधर्म होने से वस्तुतः चेतन से जुदा नहीं और सांख्य के अनुसार कर्म प्रकृति धर्म होने से वस्तुतः जड से जुदा नहीं जब कि जैन चिन्तकों के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड उभय रूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं।

यह सारी कर्मतत्त्व सम्बन्धी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि

कर्मतत्त्व के चिन्तकों में परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। वह समय कितना पुराना है वह निश्चय रूप से तो कहा ही नही जा सकता, पर जैनदर्शन में कर्मशास्त्र का जो चिरकाल से स्थान है, उस शास्त्र में जो विचारों की गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का असाधारण निरूपण है इसे ध्यान में रखने से यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्या के धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्व के नाम से विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वशब्द का मतलब भगवान महावीर के पहले से चला आनेवाला शास्त्रविशेष है। निःसंदेह ये पूर्व वस्तुतः भगवान पार्श्वनाथ के पहले से ही एक या दूसरे रूप में प्रचलित रहे। एक ओर जैनचिन्तकों ने कर्मतत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया, जब कि दूसरी ओर सांख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होंने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया। पर सबों ने विरासत में मिले कर्मचिन्तन को अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तार में जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है, फिर भी सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कर्मचिन्तनों के साथ उसका बहुत-कुछ साम्य है और मूल में एकता भी है, जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियों के लिए ज्ञातव्य है।

जैन तथा अन्य दर्शनों की ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व सम्बन्धी मान्यता

कर्मवाद का मानना यह है कि सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके होने में काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणों की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनों की तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओं का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता। दूसरे दर्शनों में किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना गया है, अतएव उनमें सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी-न-किसी तरह का ईश्वर का सबन्ध जोड दिया गया है। न्यायदर्शन में कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते

है।[1] वैशेषिकदर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानकर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है। योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम—जड़ जगत का फैलाव माना है।[3] श्री शङ्कराचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उपनिषद् के आधार पर जगह जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादानकारण सिद्ध किया है।

परन्तु जीवों से फल भोगवाने के लिए जैन दर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता क्योंकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने में स्वतन्त्र हैं वैसे ही उसके फल को भोगने में भी। कहा है कि—

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥१॥

इसी प्रकार जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता क्योंकि उसके मत से सृष्टि अनादि-अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नहीं हुई तथा वह स्वयं ही परिणमनशील है इसलिए ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखती।

ईश्वर सृष्टिकर्ता और कर्मफलदाता क्यों नहीं?

यह जगत् किसी समय नया नहीं बना, वह सदा ही से है। हाँ, इसमें परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने में मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्तन भी होते हैं कि जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। वे जड़ तत्त्वों के तरह-तरह के संयोगों से—उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियों से बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी पत्थर आदि चीजों के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड़ का बन जाना, इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी के रूप में बहना, भाप का पानी के रूप में बरसना

---

१ न्यायसूत्र अ ४ आ १ सू १।
२ प्रशस्तपादभाष्य पृ ४८।
३ समाधिपाद सू २४ के भाष्य व टीका।
४ ब्रह्मसूत्र १.१-२१ का भाष्य, ब्रह्मसूत्र अ २ १-६।

और फिर से पानी का भापरूप बन जाना इत्यादि। इसलिए ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है।

प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नहीं चाहते यह ठीक है, पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि जीव के—चेतन के संग से कर्म में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाकों को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता कि चेतन के संबन्ध के सिवाय ही जड़ कर्म भोग देने में समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिए ईश्वररूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सभी जीव चेतन हैं वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात, केवल चाहना न होने ही से किए कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे, सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वर-कर्तृत्ववादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना-अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते हैं।

ईश्वर और जीव के बीच भेदाभेद

ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उनमें अन्तर ही क्या है? हाँ, अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का

कारण जो औपाधिक कर्म है। उसके छूट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है विषमता का राज्य ससार तक ही परिमित है आगे नहीं। इसलिए कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए उचित नहीं।

अपने विघ्न का कारण स्वयं जीव ही

इस लोक से या परलोक से सबन्ध रखनेवाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी-न-किसी विघ्न का सामना करना न पडे। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिए कि चाहे मैं जान सकू या नही लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझ में ही होना चाहिए। जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न-विषवृक्ष उगता है उसका बीज भी उसी भूमिका में बोया हुआ होना चाहिए। पवन पानी आदि बाहरी निमित्तों के समान उस विघ्न-वृक्ष को अकुरित होने में कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है पर वह विघ्न का बीज नहीं— ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धिनेत्र को स्थिर कर देता है जिससे वह अड़चन के असली कारण को अपने में देखकर न तो उसके लिए दूसरे को कोसता है और न घबराता है।

कर्म सिद्धान्त के विषय में डा मेक्समूलर का अभिप्राय

कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सबन्ध में डा मेक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं —

'यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझ को जो-कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकानेवाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर

करने की प्रेरणा आप ही अलग होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शङ्का क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। इससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यजीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।"

कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का अंश है

अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं है? इसलिए अध्यात्मशास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्मजन्य बतलाकर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का ही एक अंश है।

जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मरूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिए।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों में आत्मबुद्धि करना, अर्थात् जड में

अहंत्व मानना बाह्य दृष्टि है। इस अभेद भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा धर्म-शास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्म भावमय हो गए हैं उन्हें धर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो परन्तु इससे उसकी सच्चाई में कुछ भी अन्तर नहीं आ सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद भ्रम को दूर करा कर उन के भेद-ज्ञान को (विवेकख्याति को) धर्मशास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में वर्तमान परमात्मभाव देखा जाता है। परमात्मभाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढंग से ही धर्मशास्त्र ने अपने पर ले रखा है क्योंकि वह अभेद-भ्रम से भेद-ज्ञान की तरफ झुकाकर, फिर स्वाभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती परन्तु इसमें कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित पदार्थविज्ञान आदि गूढ व रसपूर्ण विषयों पर स्थूलदर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता इसमें उन विषयों का क्या दोष? दोष है समझनेवालों की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल तक उतर जाए।

कर्म शब्द का अर्थ और उसके कुछ पर्याय

जैन शास्त्र में कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल विशेष जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुए होते हैं और द्रव्य-कर्म कहलाते हैं।

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में ये शब्द

मिलते हैं—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन में पाए जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शन मे भाव-कर्म कहते है। 'अपूर्व' शब्द मीमासादर्शन मे मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्धदर्शन मे प्रसिद्ध है, परन्तु योगदर्शन मे भी उसका प्रयोग किया गया है। 'आशय' शब्द विशेष कर योग तथा साख्य दर्शन मे मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और सस्कार, इन शब्दो का प्रयोग और दर्शनो मे भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन मे। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द है जो सब दर्शनो के लिए साधारण-से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी है और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्म की सिद्धि—उपपत्ति के लिए कर्म मानना ही पडता है।

कर्म का स्वरूप

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनों मे घटित होता है, क्योकि भावकर्म आत्मा का या जीव का—वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मण-जाति के सूक्ष्म पुद्गलो का विकार है, उसका भी कर्त्ता, निमित्तरूप से, जीव ही है। भावकर्म के होने मे द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म मे भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनो का आपस मे बीजाङ्कुर की तरह कार्यकारण भाव सबन्ध है।

पुण्य-पाप की कसौटी

साधारण लोग कहा करते हैं कि 'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओ के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बन्ध होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बन्ध होता है, परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नही है।

एक परोपकारी चिकित्सक जब किसी पर शस्त्र-क्रिया करता है तब

उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लड़के को जब उसकी इच्छा के विरुद्ध पढ़ाने के लिए यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख-सा मालूम पड़ता है। पर इतने ही से न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करनेवाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जब कोई भोले लोगों को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान, पूजन आदि क्रियाओं को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बाँधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।

यह पुण्य-पाप की कसौटी सब को एक-सी सम्मत है, क्योंकि यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'

सच्ची निर्लेपता : कर्म का बन्धन कब न हो ?

साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस काम को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है? लेप (बन्ध) मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते हैं। यदि कषाय नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने के लिए समर्थ नहीं है। इससे उल्टा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल में कमल की तरह निर्लेप रहते हैं, पर कषायवान् आत्मा योग का स्वाँग रचकर भी तिल भर शुद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। यही शिक्षा कर्मशास्त्र से मिलती है और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है:

> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
> बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥ — मैत्र्युपनिषद्

कर्म का अनादित्व

विचारवान् मनुष्य के दिल मे प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि ? इसके उत्तर मे जैनदर्शन का कहना है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला, इसे कोई बतला नही सकता। भविष्य के समान भूतकाल की गहराई अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असम्भव है इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी गति ही नही है। कर्म-प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिर से संसार मे न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं।

कर्मबन्ध का कारण

जैनदर्शन मे कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण बतलाये गए हैं। इनका संक्षेप पिछले दो (कषाय और योग) कारणो मे किया हुआ भी मिलता है। अधिक संक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यो तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार हैं, पर उन सबका संक्षेप मे वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानो ने उस के राग, द्वेष दो ही प्रकार किये हैं। अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं सो भी राग-द्वेष के संबन्ध ही से। राग की या द्वेष की मात्रा बढी कि ज्ञान विपरीत रूप मे बदलने लगा। इसमे शब्दभेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के संबन्ध मे अन्य आस्तिक दर्शनों के साथ जैन दर्शन का कोई मतभेद नही। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन मे मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन मे प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि मे अविद्या को तथा जैनदर्शन मे मिथ्यात्व को कर्म का कारण बतलाया है परन्तु यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि किसी को भी कर्म का कारण क्यो न कहा जाय, पर यदि उसमे कर्म की बन्धकता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष के संबन्ध ही से। राग-द्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होना या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के 'कर्मणा बध्यते जन्तु' इस कथन मे भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष ही से है।

कर्म से छूटने के उपाय

जैन शास्त्र में परम पुरुषार्थ—मोक्ष—पाने के तीन साधन बतलाये हुए हैं: (१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र। कहीं-कहीं ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञानस्वरूप—ज्ञान का विशेष—समझकर उससे जुदा नहीं गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को मोक्ष का साधन माना है फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गए हैं? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक्चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है उसमें कर्म और योग दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है, क्योंकि सम्यक्चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्तशुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जानेवाले उपायों का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रिय जय आदि सात्त्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिए की जानेवाली सत्प्रवृत्ति ही योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्तिमार्ग है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन में बतलाये हुए मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनों के सब साधनों का समुच्चय है।

आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व और पुनर्जन्म

कर्म के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी ठीक-ठीक संगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व जिन प्रमाणों से जाना जा सकता है उनमें एक पुनर्जन्म भी है। इतना ही नहीं बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल ही नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं परन्तु रहते हैं दरिद्री। और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढ़ते हैं, परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसे अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों

या—अपराधो का—फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकडा जाकर फासी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकडा जाता है दूसरा। अब इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का बदला इस जन्म मे नही मिला, उनकी कृति क्या यो ही विफल हो जाएगी ? इन सब बातो पर ध्यान देने से यह माने बिना सतोष नही होता कि चेतन एक स्वतत्र तत्त्व है। वह जानते या अन-जानते जो अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पडता है और इसलिए उसे पुनर्जन्म के चक्कर मे घूमना पडता है। बुद्ध भगवान ने भी पुनजन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे कर्म-चक्रकृत पुनजन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिए प्रबल प्रमाण है।

कर्म-तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता

जैनदर्शन मे प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थाएँ मानी हुई है। उन्हें क्रमश बन्ध, सत्ता और उदय कहते है। जैनेतर दर्शनो मे भी कर्म की इन अवस्थाओ का वर्णन है। उनमे बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण', सत्कर्म को 'सचित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध', कहा है। किन्तु जैनशास्त्र मे ज्ञानावरणीय आदिरूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदो मे वर्गीकरण किया है और इनके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का जैसा खुलासा किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन मे नही है। पातञ्जलदर्शन मे कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बतलाए हैं, परन्तु जैनदर्शन मे कर्म के सम्बन्ध मे किये गये विचार के सामने वह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणो से होता है ? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति पैदा होती है ? कर्म अधिक से अधिक और कम-से-कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है ? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने मे असमर्थ है ? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नही ? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं ? एक कर्म

अन्य कर्मरूप कब बन सकता है ? उसकी बन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं ? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म पहले ही कब और किस तरह भोगा जा सकता है ? कितना भी बलवान कर्म क्यों न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है ? कभी-कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी कर्म अपना विपाक बिना भोगवाए क्यों नहीं छूटता ? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह भोक्ता है ? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है ? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षणशक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं ? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देती है। स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस किस प्रकार मलीन-सी दीखती है ? और बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नहीं होती है ? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देती है ? वह अपने में वर्तमान परमात्मभाव को देखने के लिए जिस समय उत्सुक होती है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अन्त में वीर्यवान आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करती है ? आत्म-मन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध परिणाम-तरंगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी गुलांट खाकर कर्म ही जो कुछ देर के लिए दबे होते हैं वे ही प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यंभावी और किस अवस्था में अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है ? आत्मसम्बद्ध अतीन्द्रिय कर्मराज किस प्रकार की आकर्षणशक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचा करता है और उनके द्वारा शरीर मन सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करता

है ? इत्यादि सख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से सबन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैन कर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नही किया जा सकता। यही कर्मतत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता है।

(द० औ० चि० ख० २ पृ० २०५-२१६, २२३-२२९, २३५-२३८)

अनेकान्तवाद

अनेकान्त जैन सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है जो तत्त्वज्ञान और धर्म दोनों विषयों में समान रूप से मान्य हुआ है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों शब्द इस समय सामान्यतः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। केवल जैन ही नहीं परन्तु समझदार जैनेतर लोग भी जैनदर्शन और जैन सम्प्रदाय को अनेकान्तदर्शन अथवा अनेकान्तसम्प्रदाय के रूप में जानते हैं। सदा से जैन अपनी अनेकान्त-विषयक मान्यता को एक अभिमान की वस्तु मानते आये हैं और उसकी व्यापकता उदारता तथा सुन्दरता का ख्यापन करते आये हैं। यहाँ हमें देखना है कि यह अनेकान्त क्या है।

अनेकान्त का सामान्य विवेचन

अनेकान्त एक प्रकार की विचारपद्धति है। यह सर्व दिशाओं में और सब बाजुओं से विचरण करनेवाला एक वस्तुसमस्त मानसचक्षु है। ज्ञान के विचार के और आचरण के किसी भी विषय को यह मात्र एक टूटे या अपूर्ण पहलू से देखने से इन्कार करता है और यथा हो सके उतने अधिकाधिक पहलुओं से अधिकाधिक ब्यौरे से और अधिकाधिक मार्मिकतापूर्वक सब-कुछ सोचने-समझने और आचरण करने का उसका पक्षपात है। उसका यह पक्षपात भी सत्य की नींव पर आधारित है। अनेकान्त की सजीवता अथवा जीवनधारा उसके आगे पीछे या भीतर सर्वत्र सत्य का—यथार्थता का प्रवाह। अनेकान्त मात्र कल्पना नहीं है परन्तु सत्यसिद्ध कल्पना होने से यह तत्त्वज्ञान है और विवेकी आचरण का विषय होने से धर्म भी है। अनेकान्त की सजीवता इसी में है कि वह किस प्रकार दूसरे विषयों को तटस्थ भाव से देखने विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है, इसी

प्रकार वह अपने स्वरूप तथा सजीवता के बारे मे भी मुक्त मन मे विचार करने को कहता है। जितनी विचार की उन्मुक्तता, स्पष्टता और तटस्थता, उतना ही अनेकान्त का बल या जीव।

(द० औ० चि० भा० २, पृ० ८७३)

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्म-पन्थ, उसकी आधारभूत—उसके मूल प्रवर्तक पुरुष की—एक खास दृष्टि होती है, जैसे कि—शकराचार्य की अपने मतनिरूपण मे 'अद्वैतदृष्टि' और भगवान् बुद्ध की अपने धर्म-पन्थ प्रवर्तन मे 'मध्यमप्रतिपदादृष्टि' खास दृष्टि है । जैन दर्शन भारतीय दर्शनो मे एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म-पन्थ भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्य पुरुषो की एक खास दृष्टि उनके मूल में होनी ही चाहिए और वह है भी। यही दृष्टि अनेकान्तवाद है । तात्त्विक जैन-विचारणा अथवा आचार-व्यवहार जो-कुछ भी हो, वह सब अनेकान्तदृष्टि के आधार पर किया जाता है। अथवा यो कहिए कि अनेक प्रकार के विचारो तथा आचारों में से जैन विचार और जैनाचार क्या हैं? कैसे हो सकते हैं? इन्हें निश्चित करने व कसने की एकमात्र कसौटी भी अनेकान्तदृष्टि ही है ।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० १८९)

अन्य दर्शनों में अनेकान्तदृष्टि

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी[1] कहते हैं। जैन आगमो मे महावीर को भी विभज्यवादी कहा है।[2] विभज्यवाद का मतलब पृथक्करणपूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना है। विभज्यवाद का ही दूसरा मतलब अनेकान्त है, क्योंकि विभज्यवाद मे एकान्तदृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा मे विभज्यवाद के स्थान मे मध्यममार्ग शब्द विशेष रूढ है। हमने ऊपर देखा कि

१ मज्झिमनिकाय सुत्त ९९।
२ सूत्रकृताग १ १४ २२।

ही निरूपण मे अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि सत्य निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सब की एक-सी नही होती। बुद्धदेव जिस शैली से सत्य का निरूपण करते है या शङ्कराचार्य उपनिषदो के आधार पर जिस ढग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भ० महावीर की सत्यप्रकाशन की शैली जुदा है। भ० महावीर की सत्यप्रकाशनशैली का दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल मे दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप मे प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

वस्तु का पूर्ण रूप मे त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसी को वह हो भी जाय तथापि उसका उसी रूप मे शब्दो के द्वारा ठीक-ठीक कथन करना उस सत्यद्रष्टा और सत्यवादी के लिए भी बडा कठिन है। कोई उस कठिन काम को किसी अश में करनेवाले निकल भी आएँ तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि के अनिवार्य भेद के कारण उन सबके कथन मे कुछ-न-कुछ विरोध या भेद का दिखाई देना अनिवार्य है यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इने-गिने मनुष्यो की बात, जिन्हें हम सिर्फ कल्पना या अनुमान से समझ या मान सकते हैं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यों तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्यो मे भी बहुत-से यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। ऐसी स्थिति मे यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शन के कारण और उसे प्रकाशित करने की अपूर्ण सामग्री के कारण सत्यप्रिय मनुष्यो की भी समझ में कभी-कभी भेद आ जाता है और सस्कारभेद उनमे और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियो के द्वारा अन्त मे भेद और विरोध की सामग्री आप ही आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोग उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

भ० महावीर के द्वारा सशोधित अनेकान्तदृष्टि और उसकी शर्तें

ऐसी वस्तुस्थिति देखकर भ० महावीर ने सोचा कि ऐसा कौन-सा रास्ता निकाला जाए जिससे वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण सत्य दर्शन करनेवाले के साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी यदि दूसरे का दर्शन सत्य है, इसी तरह अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना

थी। इधर से जैन विचारक विद्वानो ने भी उनका सामना किया। इस प्रचण्ड सघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी साम्प्रदायिक विद्वानो पर भी पड़ा। दक्षिण हिन्दुस्तान मे प्रचण्ड दिगम्बराचार्यों और प्रकाण्ड मीमासक तथा वेदान्त के विद्वानो के बीच शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई उससे अन्त में अनेकान्तदृष्टि का ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज जैसे बिलकुल जैनत्व विरोधी प्रखर आचार्य ने शङ्कराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्यत उपनिषदो का लिया, पर उनमे से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया, अथवा यो कहिए कि रामानुज ने अपने ढग से अनेकान्तदृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना मे परिणत किया और औपनिषद तत्त्व का जामा पहनाकर अनेकान्तदृष्टि मे से विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्तदृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्तमार्ग पर स्थिर रखा। पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ, जो दक्षिण हिन्दुस्तान मे हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व है तो औपनिषदिक, पर उनकी सारी विचारसरणी अनेकान्तदृष्टि का नया वेदान्तीय स्वाँग है। इधर उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान मे जो दूसरे विद्वानो के साथ श्वेताम्ब-रीय महान् विद्वानों का खण्डनमण्डन-विषयक द्वन्द्व हुआ, उसके फल-स्वरूप अनेकान्तवाद का असर जनता मे फैला और साम्प्रदायिक ढग से अनेकातवाद का विरोध करनेवाले भी जानते-अनजानते अनेकान्तदृष्टि को अपनाने लगे। इस तरह वाद रूप मे अनेकातदृष्टि आज तक जैनो की ही बनी हुई है, तथापि उसका असर किसी न किसी रूप मे अहिंसा की तरह विकृत या अर्धविकृत रूप मे हिन्दुस्तान के हरएक भाग मे फैला हुआ है। इसका सबूत सब भागो के साहित्य मे से मिल सकता है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० १५१-१५२, १५५-१५६)

१४

नयवाद

जैन तत्त्वज्ञान की परिभाषाओं में नयवाद की परिभाषा का भी स्थान है। नय पूर्ण सत्य की एक बाजू को जाननेवाली दृष्टि का नाम है। ऐसे नय के सात प्रकार जैन शास्त्रों में पुराने समय से मिलते हैं जिन में प्रथम नय का नाम है 'नैगम'।

'नैगम' शब्द का मूल और अर्थ

कहना न होगा कि नैगम शब्द 'निगम' से बना है जो निगम वैशाली में थे और जिनके उल्लेख सिक्कों में भी मिले हैं। 'निगम' समान कारोबार करनेवालों की श्रेणीविशेष है। उसमें एक प्रकार की एकता रहती है और सब स्थूल व्यवहार एक-सा चलता है। उसी 'निगम' का भाव लेकर उसके ऊपर से नैगम शब्द के द्वारा जैन परम्परा ने एक ऐसी दृष्टि का सूचन किया है जो समाज में स्थूल होती है और जिसके आधार पर जीवन-व्यवहार चलता है।

अवशिष्ट छः नय उनका आधार और स्पष्टीकरण

नैगम के बाद संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे छः शब्दों के द्वारा आंशिक विचारसरणियों का सूचन आता है। मेरी राय में उक्त छहों दृष्टियाँ यद्यपि तत्त्वज्ञान से संबन्ध रखती हैं पर वे मूलतः उस समय के राज्य-व्यवहार और सामाजिक-व्यावहारिक आधार पर फलित की गई हैं। इतना ही नहीं बल्कि संग्रह व्यवहारादि ऊपर सूचित शब्द भी तत्कालीन भाषाप्रयोगों से लिए हैं। अनेक गण मिलकर राज्यव्यवस्था या समाजव्यवस्था करते थे जो एक प्रकार का समुदाय

या सग्रह होता था और जिसमे भेद मे अभेद दृष्टि का प्राधान्य रहता था। तत्त्वज्ञान के सग्रह नय के अर्थ मे भी वही भाव है। व्यवहार चाहे राजकीय हो या सामाजिक, वह जुदे-जुदे व्यक्ति या दल के द्वारा ही सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञान के व्यवहार नय मे भी भेद अर्थात् विभाजन का ही भाव मुख्य है। हम वैशाली मे पाए गए सिक्को से जानते है कि 'व्यावहारिक' और 'विनिश्चय महामात्य' की तरह 'सूत्रधार' भी एक पद था। मेरे ख्याल मे सूत्रधार का काम वही होना चाहिए, जो जैन तत्त्वज्ञान के ऋजुसूत्र नय शब्द से लक्षित होता है। ऋजुसूत्रनय का अर्थ है—आगे पीछे की गली कूचे मे न जाकर केवल वर्तमान का ही विचार करना। सभव है सूत्रधार का काम भी वैसा ही कुछ रहा हो, जो उपस्थित समस्याओ को तुरन्त निबटाए। हरेक समाज में, सम्प्रदाय मे और राज्य मे भी प्रसगविशेष पर शब्द अर्थात् आज्ञा को ही प्राधान्य देना पडता है। जब अन्य प्रकार से मामला सुलझता न हो तब किसी एक का शब्द ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है। शब्द के इस प्राधान्य का भाव अन्य रूप मे शब्दनय मे गर्भित है। बुद्ध ने खुद ही कहा है कि लिच्छवीगण पुराने रीतिरिवाजो अर्थात् रूढियो का आदर करते हैं। कोई भी समाज प्रचलित रूढियो का सर्वथा उन्मूलन करके नही जी सकता। समभिरूढनय में रूढि के अनुसरण का भाव तात्त्विक दृष्टि से घटाया है। समाज, राज्य और धर्म की व्यवहारगत और स्थूल विचार-सरणी या व्यवस्था कुछ भी क्यो न हो, पर उसमे सत्य की पारमार्थिक दृष्टि न हो तो वह न जी सकती है, न प्रगति कर सकती है। एवम्भूतनय उसी पारमार्थिक दृष्टि का सूचक है जो तथागत के 'तथा' शब्द मे या पिछले महायान के 'तथता' मे निहित है। जैन परम्परा मे भी 'तहत्ति' शब्द उसी युग मे आज तक प्रचलित है, जो इतना ही सूचित करता है कि सत्य जैसा है वैसा हम स्वीकार करते हैं।

(द० औ० चि० ख० १, पृ० ५८-६०)

अपेक्षाएँ और अनेकान्त

मकान किसी एक कोने मे पूरा नही होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा मे नही होते। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध

१४

नयवाद

जैन तत्त्वज्ञान की परिभाषाओं में नयवाद की परिभाषा का भी स्थान है। नय पूर्ण सत्य की एक बाजू को जाननेवाली दृष्टि का नाम है। ऐसे नय के सात प्रकार जैन शास्त्रों में पुराने समय से मिलते हैं जिन में प्रथम नय का नाम है 'नैगम'।

'नैगम' शब्द का मूल और अर्थ

कहना न होगा कि नैगम शब्द 'निगम' से बना है जो निगम वैशाली में थे और जिनके उल्लेख सिक्कों में भी मिले हैं। 'निगम' समान कारोबार करनेवालों की मण्डलीविशेष है। उसमें एक प्रकार की एकता रहती है और सब स्थूल व्यवहार एक-सा चलता है। उसी 'निगम' का भाव लेकर उसके ऊपर से नैगम शब्द के द्वारा जैन परम्परा में एक ऐसी दृष्टि का सूचन किया है जो समाज में स्थूल होती है और जिसके आधार पर जीवनव्यवहार चलता है।

अवशिष्ट छः नय उनका आधार और स्पष्टीकरण

नैगम के बाद संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवंभूत ऐसे छः शब्दों के द्वारा आंशिक विचारसरणियों का सूचन आता है। मेरी राय में उक्त छहों दृष्टियाँ यद्यपि तत्त्वज्ञान से संबन्ध रखती हैं पर वे मूलतः उस समय के राज्य-व्यवहार और सामाजिक-व्यावहारिक आधार पर फलित की गई हैं। इतना ही नहीं बल्कि संग्रह व्यवहारादि ऊपर सूचित शब्द भी तत्कालीन भाषाप्रयोगों से लिए हैं। अनेक गण मिलकर राज्यव्यवस्था या संघव्यवस्था करते थे जो एक प्रकार का समुदाय

रूप से देखती है और अतीत-अनागत को 'सत्' शब्द की अर्थमर्यादा में से हटा देती है तब उसके द्वारा फलित होनेवाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है, क्योंकि वह अतीत-अनागत के चक्रव्यूह को छोड़कर सिर्फ वर्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनो मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो शब्द या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय लिये बिना ही किसी भी वस्तु का चिन्तन करती हैं। अतएव वे तीनो प्रकार के चिन्तन अर्थनय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है, जो शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थ का विचार करती है। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थचिन्तन शब्दनय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यतया शब्द नय के अधिकारी हैं, क्योंकि उन्ही के विविध दृष्टि-बिन्दुओं से शब्दनय में विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दो को अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद न मानने पर भी लिङ्ग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्दधर्मों के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्दनय या साम्प्रत नय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्तिसिद्ध ही माननेवाली मनोवृत्ति से विचार करनेवाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जानेवाले शब्दो के अर्थ में भी व्युत्पत्तिभेद से भेद बतलाते है। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दो के अर्थभेद का दर्शन समभिरूढ नय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नहीं, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होनेवाले अर्थ की मौजूदगी और गैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थभेद मानता है वह एवभूत नय कहलाता है। इन तार्किक छः नयो के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है, जिसमे निगम अर्थात् देशरूढि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारो का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं, पर किसी एक अंश को अर्थात् दृष्टिकोण को अवलम्बित करके प्रवृत्त होनेवाले सब प्रकार के विचार उस-उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

शास्त्र मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं, पर वे

दिखाई देनेवाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर लिया जानेवाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नहीं होता, पर वह असत्य भी नहीं। जुदे-जुदे सम्भवित सभी कोनों पर खड़े रहकर लिये जानेवाले सभी सम्भवित अवलोकनों का सारसमुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसम्भवी प्रत्येक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन का अनिवार्य अङ्ग है। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिन्तन-दर्शन भी अनेक अपेक्षाओं से निष्पन्न होता है। मन की सहज रचना, उस पर पड़नेवाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं जिनका आश्रय लेकर वस्तु का विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार-स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टि-कोण या दृष्टि-बिन्दु भी कही जाती हैं। सम्भवित सभी अपेक्षाओं से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यों न दिखाई देती हों—किये जानेवाले चिन्तन व दर्शनों का सारसमुच्चय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासम्भवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक-एक अङ्ग है जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन में समन्वय पाने के कारण वस्तुतः अविरुद्ध ही है।

सात नयों का कार्यक्षेत्र

जब किसी की मनोवृत्ति विश्व के अन्तर्गत सभी भेदों को—चाहे वे गुण, धर्म या स्वरूपकृत हों या व्यक्तित्वकृत हों—भुलाकर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होनेवाला 'सत्' शब्द के एकमात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन ही संग्रह नय है। गुण-धर्मकृत या व्यक्तित्वकृत भेदों की ओर झुकनेवाली मनोवृत्ति से किया जानेवाला उसी विश्व का दर्शन व्यवहार नय कहलाता है, क्योंकि उसमें लोकसिद्ध व्यवहारों की भूमिका रूप से भेदों का खास स्थान है। इस दर्शन में 'सत्' शब्द की अर्थमर्यादा अखण्डित न रहकर अनेक खण्डों में विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा कालकृत भेदों की ओर झुककर सिर्फ वर्तमान को ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत्

निरूपण एक नहीं है, तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चयदृष्टिसम्मत आचार व चारित्र एक ही है, भले ही परिभाषा, वर्गीकरण आदि भिन्न हों। यहाँ तो यह दिखाना है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहाररूप दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों प्रदेशों में लागू की गई हैं। इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैन दर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है।

तत्त्वज्ञान और आचार में उनकी भिन्नता

जब निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब सामान्य रूप से शास्त्रचिन्तन करनेवाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जानेवाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जानेवाले वैसे प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चयदृष्टि और आचार विषयक निश्चयदृष्टि ये दोनों एक नहीं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहारदृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण यों है—

तत्त्वलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि

जब निश्चयदृष्टि से तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादन करना हो, तो उसकी सीमा में केवल यही बात आनी चाहिये कि जगत के मूल तत्त्व क्या हैं, कितने हैं और उनका क्षेत्र-काल आदि से निरपेक्ष स्वरूप क्या है? और जब व्यवहारदृष्टि से तत्त्वनिरूपण इष्ट हो, तब उन्हीं मूल तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से सापेक्ष स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। इस तरह हम निश्चयदृष्टि का उपयोग करके जैनदर्शनसम्मत तत्त्वों का स्वरूप कहना चाहें तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि चेतन-अचेतन ऐसे परस्पर अत्यन्त विजातीय दो तत्त्व हैं। दोनों एक-दूसरे पर असर डालने की शक्ति भी धारण करते हैं। चेतन का संकोच विस्तार द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि सापेक्ष होने से व्यवहारदृष्टि से सिद्ध होता है। अचेतन पुद्गल का परमाणुरूपत्व या एकप्रदेशावगाह्यत्व निश्चयदृष्टि का विषय है, जब कि उसका स्कन्ध-परिणमन या अपने क्षेत्र में अन्य अनन्त परमाणु और स्कन्धों को अवकाश देना यह व्यवहारदृष्टि का निरूपण है।

नय उपर्युक्त ज्ञान नयों से अलग नहीं है किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिका मात्र है। द्रव्य अर्थात् सामान्य अन्वय अभेद या एकत्व को विषय करनेवाला विचारमार्ग द्रव्यार्थिक नय है। नैगम संग्रह और व्यवहार—ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलम्बित करके ही चलती है। इसलिए वे भी द्रव्यार्थिक ही माने गये हैं। अलबत्ता वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध-मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होनेवाला विचारपथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारों नय पर्यायार्थिक ही माने गये हैं। अभेद को छोड़कर एकमात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता है इसलिए उसी को शास्त्र में पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूलाधार कहा है। पिछले तीन नय उसी मूलभूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र हैं।

केवल ज्ञान को उपयोगी मानकर उसके आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचारधारा ज्ञाननय है तो केवल क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचारधारा क्रियानय है। नयरूप आधार-स्तम्भों के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्ण दर्शन-अनेकान्त भी निस्सीम है।

(द औ चि ख २, पृ १७१ २)

निश्चय और व्यवहार नय का अन्य दर्शनों में स्वीकार

निश्चय और व्यवहार नय जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। विद्वान् लोग जानते हैं कि इसी नय-विभाग की आधारभूत दृष्टि का स्वीकार इतर दर्शनों ने भी है। बौद्ध दर्शन बहुत पुराने समय से परमार्थ और संवृति इन दो दृष्टियों से निरूपण करता आया है। शांकर वेदान्त की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक या मायिक दृष्टि प्रसिद्ध है। इस तरह जैन-जैनेतर दर्शनों में परमार्थ या निश्चय और संवृति या व्यवहार दृष्टि का स्वीकार तो है पर उन दर्शनों में उक्त दोनों दृष्टियों से किया जानेवाला तत्त्वनिरूपण बिलकुल जुदा-जुदा है। यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चयदृष्टिसम्मत तत्त्व

इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दो शब्द भले ही समान हो, पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं और हमें विभिन्न परिणामो पर पहुँचाते हैं।

जैन एव उपनिषद के तत्त्वज्ञान की निश्चयदृष्टि के बीच भेद

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद तत्त्वज्ञान से बिलकुल भिन्न है। प्राचीन माने जानेवाले सभी उपनिषद् सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश आदि भिन्न-भिन्न नामो से जगत के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् जड-चेतन आदि रूप मे कैसा ही नानारूप क्यो न हो, पर उसके मूल मे असली तत्त्व तो केवल एक ही है, जब कि जैनदर्शन जगत के मूल में किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नही करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वो का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैस्वरूप की व्यवस्था करता है। चौवीस तत्त्व माननेवाले साख्य दर्शन को और शाकर आदि वेदान्त शाखाओ को छोडकर भारतीय दर्शनो मे ऐसा कोई दर्शन नही जो जगत के मूलरूप से केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो, साख्य-योग हो या पूर्वमीमासा हो, सब अपने-अपने ढग से जगत के मूल मे अनेक तत्त्वो का स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद तत्त्वचिन्तन की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ४९८-५००)

आचारलक्षी निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि

परन्तु आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि का निरूपण जरे प्रकार से होता है। जैन दर्शन मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानकर उसी की दृष्टि से आचार की व्यवस्था करता है। अतएव जो आचार सीधे तौर से मोक्षलक्षी है वही नैश्चयिक आचार है। इस आचार में दृष्टिभ्रम और कषायिक वृत्तियों के निर्मूलीकरण मात्र का समावेश होता है। पर व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नहीं। नैश्चयिक आचार की भूमिका के निष्पन्न भिन्न-भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले भी आचार व्यावहारिक आचार की कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्याव हारिक आचारों में से गुजरता है। इस तरह हम देखते हैं कि आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से ही विचार करती है, जब कि तत्त्वनिरूपक निश्चय या व्यवहार दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त होती है।

तत्त्वलक्षी और आचारलक्षी निश्चय एवं व्यावहारिक दृष्टि के बीच एक अन्य महत्त्व का अन्तर

तत्त्वज्ञान और आचारलक्षी उक्त दोनों नयों में एक दूसरा भी महत्त्व का अन्तर है जो ध्यान देने योग्य है। नैश्चयिक-दृष्टिसम्मत तत्त्वों का स्वरूप साधारण जिज्ञासु कभी प्रत्यक्ष कर नहीं पाते। हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। पर आचार के बारे में ऐसा नहीं है। कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता-मन्दता के तारतम्य को प्रत्यक्ष जान सकता है जब कि अन्य व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति की वृत्तियाँ सर्वथा परोक्ष हैं। नैश्चयिक हो या व्यावहारिक तत्त्वज्ञान का स्वरूप उस-उस दर्शन के सभी अनुयायियों के लिए एक सा है तथा समान परिभाषाबद्ध है। पर नैश्चयिक व व्यावहारिक आचार का स्वरूप ऐसा नहीं। हरएक व्यक्ति का नैश्चयिक आचार उसके लिए प्रत्यक्ष है। इस अल्प विवेचन से भी केवल

इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दो शब्द भले ही समान हो, पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं और हमें विभिन्न परिणामो पर पहुँचाते हैं ।

जैन एव उपनिषद के तत्त्वज्ञान की निश्चयदृष्टि के बीच भेद

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद तत्त्वज्ञान से बिलकुल भिन्न है। प्राचीन माने जानेवाले सभी उपनिषद् सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश आदि भिन्न-भिन्न नामो मे जगत के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् जड-चेतन आदि रूप मे कैसा ही नानारूप क्यो न हो, पर उसके मूल में असली तत्त्व तो केवल एक ही है, जब कि जैनदर्शन जगत के मूल मे किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वो का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैश्वरूप की व्यवस्था करता है। चौबीस तत्त्व माननेवाले सांख्य दर्शन को और शाकर आदि वेदान्त शाखाओ को छोडकर भारतीय दर्शनो मे ऐसा कोई दर्शन नहीं जो जगत के मूलरूप मे केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो, सांख्य-योग हो या पूर्वमीमासा हो, सब अपने-अपने ढग से जगत के मूल मे अनेक तत्त्वो का स्वीकार करते हैं। इसमे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद तत्त्वचिन्तन की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ४९८-५००)

१५

सप्तभंगी

सप्तभंगी और उसका आधार

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्हीं के आधार पर भंगवाद की सृष्टि होती है। जिन दो दर्शनों के विषय ठीक एक-दूसरे से बिल्कुल विरोधी जान पड़ते हों ऐसे दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो सम्भवित वाक्य-भंग बनाए जाते हैं वही सप्तभंगी है। सप्तभंगी का आधार नयवाद है और उसका ध्येय समन्वय है अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है। जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का दूसरे को बोध कराने के लिए परार्थ-अनुमान अर्थात् अनुमानवाक्य की रचना की जाती है, वैसे ही विरुद्ध अंशों का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भंग-वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भंगवाद अनेकान्तदृष्टि के क्षेत्र में अपने आप ही फलित हो जाते हैं।

(द औ चि ख २ पृ १७२)

सात भंग और उनका मूल

(१) भंग अर्थात् वस्तु का स्वरूप बतलानेवाले वचन का प्रकार अर्थात् वाक्यरचना।

(२) वे सात भङ्ग कहे जाते हैं फिर भी मूल तो तीन [(१) स्याद् अस्ति (२) स्याद् नास्ति और (३) स्याद् अवक्तव्य] ही हैं। अवशिष्ट चार [(१) स्याद् अस्ति-नास्ति (२) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य (३) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य और (४) स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य] तो मूल भंगों के पारस्परिक विविध संयोजन से होते हैं।

(३) किसी भी एक वस्तु के बारे में या एक ही धर्म के बारे में भिन्न-भिन्न विचारकों की मान्यता में भेद दिखाई देता है। यह भेद विरोधरूप है या नहीं और यदि न हो तो दृश्यमान विरोध में अविरोध किस प्रकार घटाना? अथवा यों कहो कि अमुक विवक्षित वस्तु के बारे में जब धर्म-विषयक दृष्टि-भेद दिखाई दें तब वैसे भेदों का प्रमाणपूर्वक समन्वय करना और वैसा करके सभी सही दृष्टियों को उनके योग्य स्थान में रखकर न्याय करना—इस भावना में सप्तभंगी का मूल है।

सप्तभंगी का कार्य : विरोध का परिहार

उदाहरणार्थ एक आत्मद्रव्य को लेकर उसके नित्यत्व के बारे में दृष्टि-भेद है। कोई आत्मा को नित्य मानता है तो कोई नित्य मानने से इन्कार करता है, और कोई ऐसा कहता है कि वह तत्त्व ही वचन-अगोचर है। इस प्रकार आत्मतत्त्व के बारे में तीन पक्ष प्रसिद्ध हैं। इसलिए यह विचारणीय है कि क्या वह नित्य ही है और अनित्यत्व उसमें प्रमाणबाधित है? अथवा क्या वह अनित्य ही है और नित्यत्व उसमें प्रमाणबाधित है? अथवा उसे नित्य या अनित्य न कहकर अवक्तव्य ही कहना योग्य है? इन तीनों विकल्पों की परीक्षा करने पर तीनों यदि सच्चे हों तो उनका विरोध दूर करना चाहिए। जब तक विरोध खड़ा रहेगा तब तक परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म एक वस्तु में है ऐसा कहा नहीं जा सकता। फलतः विरोध-परिहार की ओर ही सप्तभंगी की दृष्टि सर्वप्रथम जाती है। वह निश्चित करती है कि आत्मा नित्य ही है, परन्तु सब दृष्टियों से नहीं, मात्र मूल तत्त्व की दृष्टि से वह नित्य है, क्योंकि वह तत्त्व पहले कभी नहीं था और पीछे से उत्पन्न हुआ ऐसा नहीं है तथा वह तत्त्व मूल में ही से नष्ट होगा ऐसा भी नहीं है। अतः तत्त्वरूप से वह अनादिनिधन है और यही उसका नित्यत्व है। ऐसा होने पर भी वह अनित्य भी है, परन्तु उसका अनित्यत्व द्रव्य दृष्टि से नहीं किन्तु मात्र अवस्था की दृष्टि से है। अवस्थाएँ तो प्रतिसमय निमित्तानुसार बदलती रहती ही हैं। जिसमें कुछ-न-कुछ रूपान्तर न होता हो, जिसमें आन्तरिक या बाह्य निमित्त के अनुसार सूक्ष्म या स्थूल अवस्थाभेद सतत चालू न रहता हो वैसे तत्त्व की कल्पना

ही नहीं हो सकती। अतः अवक्तव्यत्व मानना पड़ता है और वही अनिर्वचनीय है। इस प्रकार आत्मा द्रव्य रूप से (सामान्य रूप से) नित्य होने पर भी अवस्था रूप से (विशेष रूप से) अनित्य भी है। नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एक ही स्वरूप से एक वस्तु में मानने पर विरोध आता है, जैसे कि द्रव्यरूप से ही आत्मा नित्य है ऐसा मानने वाला उसी रूप से अनित्य मान ता। इसी प्रकार आत्मा नित्य अनित्य आदि शब्द द्वारा उस उस रूप में प्रतिपाद्य होने पर भी समग्र रूप से किसी एक शब्द से नहीं कही जा सकती अतः वह असमग्र रूप से शब्द का विषय होती है फिर भी समग्र रूप से वैसे किसी शब्द का विषय नहीं हो सकती अतः अवक्तव्य भी है। इस प्रकार एक नित्यत्वधर्म के आधार पर आत्मा के बारे में नित्य अनित्य और अवक्तव्य ऐसे तीन पक्ष—भंग उचित ठहरते हैं।

इसी प्रकार एकत्व सत्त्व भिन्नत्व अभिलाप्यत्व आदि सर्वसाधारण धर्मों को लेकर किसी भी वस्तु के बारे में ये तीन भंग बन सकते हैं और उन पर से सात भी बन सकते हैं। चैतन्य जड़त्व आदि असाधारण धर्मों को लेकर भी सप्तभंगी घटाई जा सकती है। एक वस्तु में व्यापक या अव्यापक जितने धर्म हों उनमें से प्रत्येक को लेकर और उसका दूसरा पक्ष सोचकर सात भंग घटाए जा सकते हैं।

प्राचीन काल में आत्मा शब्द आदि पदार्थों में नित्यत्व-अनित्यत्व सत्त्व-असत्त्व एकत्व-बहुत्व व्यापकत्व-अव्यापकत्व आदि को लेकर परस्पर विरोधी वाद चलते थे। इन वादों का समन्वय करने की वृत्ति में से भंग कल्पना पैदा हुई। इस भंगकल्पना ने भी आगे जाकर साम्प्रदायिक वाद का रूप धारण किया और उसका सप्तभंगी में परिणमन हुआ।

सात से अधिक भंग सम्भव नहीं है, इसीलिए सात की संख्या मानी है। मूल तीन की विविध संयोजना करो और सात में अन्तर्भूत न हो ऐसा कोई भंग बनाओ तो जैन दर्शन सप्तभंगित्व का आग्रह कर ही नहीं सकता।

इसका संक्षिप्त सार अधोलिखित है —

(१) तत्कालीन प्रचलित वादों का समीकरण करना—यह भावना सप्तभंगी की प्रेरक है।

(२) ऐसा करके वस्तु के स्वरूप का विनिश्चय करना और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना—यह उसका साध्य है।

(३) बुद्धि में भासित होनेवाले किसी भी धर्म के बारे में मुख्य तीन ही विकल्प संभव हैं और चाहे जितने शाब्दिक परिवर्तन से संख्या बढ़ाई जाय तो भी वे सात ही हो सकते हैं।

(४) जितने धर्म उतनी ही सप्तभंगी हैं। यह वाद अनेकान्तदृष्टि का विचार-विषयक एक प्रकार है। इसके दृष्टान्त के रूप में जो शब्द, आत्मा आदि दिये हैं उसका कारण यह है कि प्राचीन आर्य विचारक आत्मा का विचार करते थे और बहुत हुआ तो आगम प्रामाण्य की चर्चा में शब्द को लेते थे।

(५) वैदिक आदि दर्शनों में भी अनेकान्तदृष्टि का स्वरूप देखा जा सकता है।

(६) प्रमाण से बाधित न हों उन सब दृष्टियों का संग्रह करने का इसके पीछे उद्देश्य है, फिर भले ही वे विरुद्ध मानी जाती हों।

(द० अ० चि० भा० २, पृ० १०६२-१०६४)

महत्त्व के चार भंगों का अन्यत्र उपलब्ध निर्देश

सप्तभंगीगत सात भंगों में शुरू के चार ही महत्त्व के हैं[1] क्योंकि वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में तथा 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजालसूत्र में ऐसे चार विकल्प छूटे-छूटे रूप में या एक साथ निर्दिष्ट पाये जाते हैं। सात भंगों में जो पिछले तीन भंग हैं उनका निर्देश किसी के पक्षरूप में कहीं देखने में नहीं आया। इससे शुरू के चार भंग ही अपनी ऐतिहासिक भूमिका रखते हैं ऐसा फलित होता है।

---

१ ये सात भंग इस प्रकार हैं (१) स्याद् अस्ति, (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद् अस्ति-नास्ति, (४) स्याद् अवक्तव्य, (५) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, (६) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य, (७) स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य।

'अवक्तव्य' के अर्थ के विषय में कुछ विचारणा

शुरू के चार भंगों में एक 'अवक्तव्य' नाम का भंग भी है। उसके अर्थ के बारे में कुछ विचारणीय बातें हैं। आगमयुग के प्रारम्भ में अवक्तव्य भंग का अर्थ ऐसा किया जाता है कि सत्-असत् या नित्य-अनित्य आदि दो अंशों को एक साथ प्रतिपादन करनेवाला कोई शब्द ही नहीं अतएव ऐसे प्रतिपादन की विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है। परन्तु अवक्तव्य शब्द के इतिहास को देखते हुए कहना पड़ता है कि उसकी दूसरी भी ऐतिहासिक व्याख्या पुराने शास्त्रों में है।

उपनिषदों में 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[1] इस उक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय अथवा वचनागोचर सूचित किया है। इसी तरह आचारांग में भी 'सव्वे सरा नियट्टंति तक्का जत्थ न विज्जइ'[2] आदि द्वारा आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा है। बुद्ध ने भी अनेक वस्तुओं को अव्याकृत शब्द के द्वारा वचनागोचर ही सूचित किया है।

जैन परम्परा में तो अनभिलाप्य भाव प्रसिद्ध हैं जो कभी वचनगोचर नहीं होते। मैं समझता हूँ कि सप्तभंगी में अवक्तव्य का जो अर्थ लिया जाता है वह पुरानी व्याख्या का बादामित व तर्कगम्य दूसरा रूप है।

सप्तभंगी संशयात्मक ज्ञान नहीं है

सप्तभंगी के विचारप्रसंग में एक बात का निर्देश करना जरूरी है। श्रीशंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' २-२-३३ के भाष्य में सप्तभंगी को संशयात्मक ज्ञान रूप से निर्दिष्ट किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह हुई पुराने खण्डन-मण्डनप्रधान साम्प्रदायिक युग की बात। पर तुलनात्मक और व्यापक अध्ययन के आधार पर प्रवृत्त हुए नए युग के विद्वानों का विचार इस विषय में जानना चाहिए। डॉ. ए. बी. ध्रुव जो

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद् २-४।
२ आचारांग सू. १ ।
३ मज्झिमनिकाय सुत्त ६३।
४ विशेषावश्यकभाष्य १४१, ४८८।

भारतीय तथा पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की सब शाखाओं के पारदर्शी विद्वान् और गुजरात के शांकर वेदान्त के विशेष पक्षपाती थे—उन्होंने अपने 'जैन अने ब्राह्मण'[1] भाषण में स्पष्ट कहा है कि सप्तभंगी यह कोई संशयज्ञान नहीं है, यह तो सत्य के नानाविध स्वरूपों की निदर्शक एक विचारसरणी है। श्री नर्मदाशंकर मेहता, जो भारतीय समग्र तत्त्वज्ञान की परम्पराओं और खासकर वेद-वेदान्त की परम्परा के असाधारण मौलिक विद्वान् थे और जिन्होंने 'हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास'[2] आदि अनेक अभ्यासपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, उन्होंने भी सप्तभंगी का निरूपण बिलकुल असाम्प्रदायिक दृष्टि से किया है, जो पठनीय है। सर राधाकृष्णन्[3], डॉ० दासगुप्ता[4] आदि तत्त्व-चिन्तकों ने भी सप्तभंगी का निरूपण जैन दृष्टिकोण को बराबर समझ कर ही किया है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५०३-५०४

---

१ आपणो धर्म, पृ० ६७३ ।

२ पृ० २१३–२१९ ।

३ राधाकृष्णन्: इण्डियन फिलॉसॉफी, वॉल्यूम १, पृ० ३०२ ।

४ दासगुप्ता: ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० १७९ ।

११

ब्रह्म और सम

जहाँ तक भारतीय तत्त्वविचार का सम्बन्ध है, ऐसा कहा जा सकता है कि इस तत्त्वविचार के दो भिन्न-भिन्न उद्गमस्थान हैं। एक है आत्मा और दूसरा है प्रकृति, अर्थात् पहला आन्तरिक है और दूसरा बाह्य है।

समता का प्रेरक तत्त्व 'सम'

किसी अज्ञात काल में मनुष्य अपने आपके बारे में विचार करने के लिए प्रेरित हुआ। मैं स्वयं क्या हूँ? कैसा हूँ? दूसरे जीवों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है?—ऐसे प्रश्न उसके मन में पैदा हुए। इनका उत्तर पाने के लिए वह अन्तर्मुख हुआ और अपने संशोधन के परिणामस्वरूप उसे भान हुआ कि 'मैं एक सचेतन तत्त्व हूँ और दूसरे प्राणीवर्ग में भी वैसी ही चेतना है।' इस विचार ने उसे अपने और दूसरे प्राणीवर्ग के बीच समता का दर्शन कराया। इस दर्शन में से समभाव के विविध अर्थ और उसकी भूमिकाएँ तत्त्वविचार में उपस्थित हुईं। बुद्धि का यह प्रवाह 'सम' के रूप में प्रथित है।

'ब्रह्म' और उसके विविध अर्थ

बुद्धि का दूसरा उद्गमस्थान बाह्य प्रकृति है। जो चिन्तक प्रकृति के विविध वस्तुओं, घटनाओं और उनके प्रेरक बलों की ओर आकर्षित हुए वे उनसे उसमें से कवित्व की अथवा यों कहें कि कवित्वमय चिन्तन की भूमिका प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के किसी कवि ने उषा के प्रकाशोत्तेजक एवं रोमांचक दर्शन का संवेदन किया। उसने रक्तवसना तरुणी के रूप में उसका रूप सूक्त में गान किया। समुद्र की उछलती तरंगों और तूफानों के बीच नौकायात्रा करनेवाले किसी कवि को समुद्र के अधिष्ठायक वरुण का ध्यान

के रूप मे स्मरण हो आया उसने वरुणसूक्त मे उस वरुणदेव की अपने सर्व-शक्तिमान रक्षक के रूप मे स्तुति की। जिसे अग्नि की ज्वालाओ और प्रकाशक शक्तियो का रोमाचक सवेदन हुआ उसने अग्नि के सूक्तो की रचना की। जिसे गाढ अन्धकारवाली रात्रि का लोमहर्षक सवेदन हुआ उसने रात्रिसूक्त रचा। यही बात वाक्, स्कम्भ, काल आदि सूक्तो के बारे मे कही जा सकती है। प्रकृति के अलग-अलग रूप हो, अथवा उन मे कोई दिव्य सत्त्व हो, अथवा उन सबके पीछे कोई एक परम गूढ तत्त्व हो, परन्तु भिन्न-भिन्न कवियो द्वारा की गई ये प्रार्थनाएँ दृश्यमान प्रकृति के किसी-न-किसी प्रतीक के आधार पर रची गई हैं। भिन्न-भिन्न प्रतीको का अवलम्बन लेनेवाली ये प्रार्थनाएँ 'ब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध थी।

ब्रह्म के इस प्राथमिक अर्थ मे से फिर तो क्रमश अनेक अर्थ फलित हुए। जिन यज्ञो मे इन सूक्तो का विनियोग होता वे भी 'ब्रह्म' कहलाये। उनके निरूपक ग्रन्थ और विधिविधान करनेवाले पुरोहितो का भी ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण के रूप मे व्यवहार होने लगा। प्राचीन काल मे ही प्रकृति के विविध पहलू या दिव्य सत्त्व एक ही तत्त्वरूप माने जाने लगे थे और ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे ही स्पष्ट कहा है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि भिन्न-भिन्न नामो से जिनकी स्तुति की जाती है वे आखिर मे तो एक ही तत्त्वरूप हैं और वह तत्त्व यानी सत्। इस प्रकार प्रकृति के अनेक प्रतीक अन्ततोगत्वा एक सत्रूप परम तत्त्व मे एकाकार हुए और यह विचार अनेक रूपो मे आगे विकसित और विस्तृत होता गया।

श्रमण और ब्राह्मण विचारधारा की एक भूमिका

समभावना के उपासक 'समन' या 'समण' कहलाये और सस्कृत मे उसका रूपान्तर 'शमन' या 'श्रमण' हुआ, परन्तु 'सम' शब्द सस्कृत ही होने से उसका सस्कृत मे 'समन' रूप बनता है। 'ब्रह्मन्' के उपासक और चिन्तक ब्राह्मण कहलाये। पहला वर्ग मुख्यतया आत्मलक्षी रहा, दूसरे वर्ग ने विश्वप्रकृति मे से प्रेरणा प्राप्त की थी और उसी के प्रतीको के द्वारा वह सूक्ष्मतम तत्त्व पर्यन्त पहुँचा था, इसलिए वह मुख्य रूप से प्रकृतिलक्षी रहा। इस प्रकार दोनो वर्गो की बुद्धि का आद्य प्रेरकस्थान भिन्न-भिन्न था,

परन्तु दोनों वर्गों की बुद्धि के प्रवाह तो किसी अन्तिम सत्य की ओर ही बह रहे थे।

बीच के अनेक युगों में इन दोनों प्रवाहों की दिशा अलग या अलग-सी लगती, कभी कभी इन दोनों में संघर्ष भी होते, परन्तु उस का आत्मलक्षी प्रवाह अन्त में समग्र विश्व में चेतनतत्त्व है और वैसा तत्त्व सभी देहधारियों में समान ही है ऐसी स्थापना में परिसमाप्त हुआ। इसी से उसने पृथ्वी पानी और वनस्पति तक में चेतनतत्त्व देखा और उसका अनुभव किया। दूसरी ओर प्रकृतिलक्षी दूसरा विचारप्रवाह विश्व के अनेक बाह्य पहलुओं को छूता हुआ अन्दर की ओर उन्मुख हुआ और उसने उपनिषत्काल में स्पष्ट रूप से स्थापित किया कि निखिल विश्व के मूल में जो एक सत् या ब्रह्म तत्त्व है वही देहधारी जीवव्यक्ति में भी है। इस प्रकार पहले प्रवाह में व्यक्तिगत चिन्तन समग्र विश्व के समभाव में परिणत हुआ और उसके आधार पर जीवन का आचारमार्ग भी स्थापित किया गया। दूसरी ओर विश्व के मूल में दिखाई देनेवाला परम तत्त्व ही व्यक्तिगत जीव है—जीवव्यक्ति उस परम तत्त्व से भिन्न नहीं है ऐसा अद्वैत भी स्थापित हुआ और इस अद्वैत के आधार पर अनेक आचारों की योजना भी हुई। गंगा और ब्रह्मपुत्रा के प्रभव स्थान भिन्न-भिन्न होने पर भी अन्त में ये दोनों प्रवाह जिस तरह एक ही महासमुद्र में मिलते हैं, उसी तरह आत्मलक्षी और प्रकृतिलक्षी दोनों विचारधाराएँ अन्त में एक ही भूमिका पर आ मिलती हैं। इसमें भेद प्रतीत होता हो तो वह केवल शाब्दिक है और बहुत हुआ तो बीच के समय में संघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए संस्कारों के कारण है।

शाश्वत विरोध होने पर भी एकता की प्रेरक परमार्थ दृष्टि

यह सही है कि प्राचीन शास्त्रों में और शिलालेख आदि में भी ब्राह्मण और श्रमण के आसपास फैले हुए विचार और आचारों के भेद और विरोधों का उल्लेख आता है। बौद्ध पिटकों, जैन आगमों और अशोक के शिलालेखों तथा दूसरे अनेक ग्रन्थों में ब्राह्मण और श्रमण इन दो वर्गों का उल्लेख देखते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इन दोनों वर्गों में शाश्वत विरोध है ऐसा भी निर्देश किया है। ऐसा होने पर भी ऊपर कहा उस प्रकार, ये दोनों प्रवाह

अपने-अपने ढंग से एक ही परम तत्त्व का स्पर्श करते हैं ऐसा प्रतिपादन किया जाय तो वह किस दृष्टि से ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण किये बिना तत्त्व-जिज्ञासा सन्तुष्ट नहीं हो सकती ।

वह दृष्टि है परमार्थ की । परमार्थदृष्टि कुल, जाति, वंश, भाषा, क्रिया-काण्ड और वेश आदि के भेदों का अतिक्रमण कर वस्तु के मूलगत स्वरूप को देखती है, अर्थात् वह स्वाभाविक रूप से अभेद अथवा समता की ओर ही उन्मुख होती है। व्यवहार में पैदा होनेवाले भेद और विरोध का प्रवर्तन सम्प्रदायों और उनके अनुयायियों में ही होता है और कभी-कभी उसमें से संघर्ष भी पैदा होता है। ऐसे संघर्ष के सूचक ब्राह्मण-श्रमण वर्ग के भेदों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में आता है, परन्तु उसके साथ ही परमार्थदृष्टिसम्पन्न प्राज्ञ पुरुषों ने जो ऐक्य देखा था या अनुभव किया था उसका निर्देश भी अनेक परम्पराओं के अनेक शास्त्रों में आता है। जैन आगम, जिनमें ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के भेद का निर्देश है उन्हीं में सच्चे ब्राह्मण और सच्चे श्रमण का समीकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध पिटकों में भी वैसा ही समीकरण आता है। वनपर्व में अजगर के रूप में अवतीर्ण नहुष ने सच्चा ब्राह्मण कौन ऐसा प्रश्न युधिष्ठिर से पूछा है। इसके उत्तर में युधिष्ठिर के मुख से महर्षि व्यास ने कहा है कि प्रत्येक जन्म लेनेवाला व्यक्ति संकर प्रजा है। मनु के शब्दों का उद्धरण देकर व्यास ने समर्थन किया है कि प्रजामात्र संकरजन्मा है, और सद्वृत्तवाला शूद्र जन्मजात ब्राह्मण से भी उत्तम है। व्यक्ति में सच्चरित्र एवं प्रज्ञा हो तभी वह सच्चा ब्राह्मण बनता है। यह हुई परमार्थदृष्टि। गीता में ब्रह्म पद का अनेकधा उल्लेख आता है, साथ ही सम शब्द भी उच्च अर्थ में मिलता है। पण्डिताः समदर्शिनः—यह वाक्य तो बहुत प्रसिद्ध है। सुत्त-निपात नाम के बौद्ध ग्रन्थ में एक परमट्ठसुत्त है। उसमें भारपूर्वक कहा है कि दूसरे हीन या झूठे और मैं श्रेष्ठ—यह परमार्थदृष्टि नहीं है।

गंगा एवं ब्रह्मपुत्रा के प्रभवस्थान भिन्न, परन्तु उनका मिलनस्थान एक। ऐसा होने पर भी दोनों महानदियों के प्रवाह भिन्न, किनारे पर की बस्तियाँ भिन्न, भाषा और आचार भी भिन्न। ऐसी जुदाई में लीन रहने-वाले मिलनस्थान की एकता देख नहीं सकते। फिर भी वह एकता तो सत्य ही है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रभवस्थानों से उत्पन्न होनेवाले विचार-

प्रवाह भिन्न-भिन्न रूप में पोषित होने के कारण उनके स्थूल रूपों में भ्रम रखनेवाले अनुयायी दोनों प्रवाहों का समीकरण देख नहीं सकते परन्तु यह तथ्य तो अबाधित है। उसे देखनेवाले प्रतिभावान पुरुष समय-समय पर अवतीर्ण होते रहे हैं और यह भी सभी परम्पराओं में।

समत्व का मुख्यत्व होने पर भी जैन और बौद्ध जैसी श्रमण परम्पराओं में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मविहार शब्द इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनको इन परम्पराओं से अलग किया ही नहीं जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व का मुख्यत्व धारण करनेवाले वर्ग में भी 'सम' पद ऐसा तो एकरस हो गया है कि उसको ब्रह्मभाव या ब्राह्मी स्थिति से अलग किया ही नहीं जा सकता।

प्राचीन काल से चली आनेवाली इस परमार्थदृष्टि का उत्तर काल में भी सतत पोषण होता रहा है। इसीलिए जन्म से ब्राह्मण परन्तु सम्प्रदाय से बौद्ध वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में स्पष्ट कहा है कि 'श्रामण्यममलो मार्गो ब्राह्मण्यमेव तत्।' उनके ज्येष्ठ बन्धु असंग ने भी वैसे ही अभिप्राय की सूचना अन्यत्र की है।

परमार्थदृष्टि की यह परम्परा साम्प्रदायिक माने जानेवाले नरसिंह मेहता में भी व्यक्त हुई है। समग्र विश्व में व्याप्त एक तत्त्व के रूप में हरि का कीर्तन करने के पश्चात् उन्होंने उस हरि के भक्त वैष्णवजन का एक लक्षण 'समदृष्टि ने तृष्णात्यागी' (समदृष्टि और तृष्णात्यागी) भी कहा है। इसी प्रकार साम्प्रदायिक समझे जानेवाले उपाध्याय यशोविजयजी ने भी कहा है कि समत्व प्राप्त करना ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति है।

इस परमार्थ और व्यवहारदृष्टि का भेद तथा परमार्थदृष्टि की यथार्थता श्री आनन्दशंकर बी० ध्रुव ने भी बताई है। एक ब्राह्मणी के हाथ के भोजन का उपयोग स्वीकार नहीं किया तब उन्होंने कहा कि यह तो मेरा एक कुटुम्बगत आचार-संस्कार है। उसकी तात्त्विकता मैं तर्कसिद्ध नहीं मानता, मात्र संस्कार का अनुसरण करता हूँ इतना ही। यही दृष्टि का विस्तार उन्होंने अन्यत्र किया है। जैन आगम सूत्रकृताङ्ग की प्रस्तावना में उन्होंने कहा है कि 'जैन (श्रमण) हुए बिना 'ब्राह्मण' नहीं हुआ जाता और 'ब्राह्मण' हुए बिना 'जैन' नहीं हुआ जाता। तात्पर्य यह कि जैनधर्म

चार संस्थाएँ

(१) संघ संस्था : चतुर्विध संघ

भगवान महावीर ने जब कर्मबन्धन को तोड़ डाला तब त्याग के दृष्टि-बिन्दु पर अपनी संस्था के विभाग किये। उसमें मुख्य दो विभाग थे — एक घर-बार और कुटुम्ब-कबीले का त्याग करके विहरण करनेवाला अनगार वर्ग और दूसरा कुटुम्ब-कबीले में आसक्त स्थानबद्ध अगारी वर्ग। पहला वर्ग पूर्ण त्यागी था। उसमें स्त्री-पुरुष दोनों आते थे और वे साधु-साध्वी कहलाते थे। दूसरा वर्ग पूर्ण त्याग का अभिलाषी था। इस प्रकार चतुर्विध संघव्यवस्था—अथवा ब्राह्मण-धर्म के प्राचीन शब्द का नये रूप में उपयोग करें तो चतुर्विध वर्णव्यवस्था—शुरू हुई। साधुगण की व्यवस्था साधु करते। उसके नियम इस संघ में आज भी हैं और शास्त्र में भी बहुत सुन्दर और व्यवस्थित रूप से दिये गये हैं। साधुगण के ऊपर श्रावक संघ का अंकुश नहीं है ऐसा कोई न समझे। प्रत्येक निर्विकार रूप से अच्छा कार्य करने के लिए साधु संघ स्वतन्त्र है परन्तु कहीं भूल मालूम हो अथवा तो मतभेद हो अथवा तो अच्छे काम में भी मदद की अपेक्षा हो वहाँ साधुगण ने स्वयं ही श्रावक संघ का अंकुश अपनी इच्छा से स्वीकार किया है। इसी प्रकार श्रावक संघ का संविधान अनेक प्रकार से भिन्न होने पर भी साधुगण का अंकुश वह मानता ही आया है। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग से ये दोनों संघ सामान्यतः हितकार्य ही करते आये हैं।

(द. औ. चिं. भा. १, पृ. १०७-१०८)

(२) साधुसंस्था

आज की साधुसंस्था भगवान महावीर की तो देन ही है परन्तु यह संस्था उससे भी प्राचीन है। भगवती जैसे आगमों में तथा दूसरे प्राचीन

ग्रन्थो मे पार्श्वापत्य अर्थात् पार्श्वनाथ के शिष्यो की बात आती है। उनमे से कई भगवान के पास जाने मे सकोच अनुभव करते हैं, कई उन्हें धर्म-विरोधी समझकर हैरान करते है, कई भगवान को हराने के लिए अथवा उनकी परीक्षा करने की दृष्टि मे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते है, परन्तु अन्त मे पार्श्वापत्य की वह परम्परा भगवान महावीर की शिष्यपरम्परामे या तो समा जाती है या फिर उसका कुछ सडा हुआ भाग अपने आप झड जाता है। इस प्रकार भगवान का साधुसघ पुन नये रूप मे ही उदित होता है, वह एक सस्था के रूप मे नवनिर्माण पाता है।

बुद्धिमत्तापूर्ण सविधान

उसकी रहन-सहन के, पारस्परिक व्यवहार के तथा कर्तव्यो के नियम बनते हैं। इन नियमो के पालन के लिए और यदि कोई इनका भग करे तो उसे योग्य दण्ड देने के लिए, सुव्यवस्थित राज्यतत्र की भाँति, इस साधु-सस्था के तत्र में भी नियम बनाये जाते हैं, छोटे-बडे अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं और इन सबके कार्यो की मर्यादा आँकी जाती है। सघ-स्थविर, गच्छस्थविर, आचार्य, उपाचार्य, प्रवतक, गणी आदि की मर्यादाएँ, आपसी व्यवहार, काय के विभाग, एक-दूसरे के झगडो का निर्णय, एक-दूसरे के गच्छ मे अथवा एक-दूसरे के गुरु के पास जाने-आने के, सीखने के, आहार इत्यादि के नियमो का जो वर्णन छेदसूत्रो मे मिलता है उसे देखने से साधुसस्था की सघटना के बारे मे आचार्यो की दीघदर्शिता के प्रति मान उत्पन्न हुए बिना नही रहता। इतना ही नहीं, आज भी किसी बडी सस्था को अपनी नियमावली तैयार करनी हो अथवा उसे विशाल बनाना हो तो उसे साधुसस्था की इस नियमावली का अभ्यास अत्यन्त सहायक होगा, ऐसा मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है।

भिक्षुणीसघ और उसका बौद्ध सघ पर प्रभाव

इस देश के चारो कोनो मे साधुसस्था फैल चुकी थी। भगवान के अस्तित्व काल मे चौदह हजार भिक्षु और छत्तीस हजार भिक्षुणियो के होने का उल्लेख आता है। उनके निर्वाण के पश्चात् इस साधुसस्था मे कितनी

वृद्धि या कमी हुई इसका कोई निश्चित विवरण हमारे पास नहीं है फिर भी ऐसा मालूम होता है कि भगवान् के बाद अमुक शताब्दियों तक तो इस संख्या में कमी नहीं हुई थी सम्भवतः अभिवृद्धि ही हुई होगी। साधुसंस्था में स्त्रियों को स्थान भगवान महावीर ने ही सर्वप्रथम नहीं दिया था उनके पहले भी भिक्षुणियाँ जैन साधुसंघ में थीं और दूसरे परिव्राजक पंथों में भी थीं फिर भी इतना तो सच है कि भगवान महावीर ने अपने साधुसंघ में स्त्रियों को खूब अवकाश दिया और उसकी व्यवस्था अधिक मजबूत की। इसका प्रभाव बौद्ध साधुसंघ पर भी पड़ा। बुद्ध भगवान साधुसंघ में स्त्रियों को स्थान नहीं देना चाहते थे परन्तु उनको साधुसंस्था में स्त्रियों को स्थान अन्त में देना पड़ा। उनके इस परिवर्तन में जैन साधुसंघ का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य है ऐसा विचार करने पर लगता है।

साधु का ध्येय : जीवनशुद्धि

साधु यानी साधक। साधक का अर्थ है अमुक ध्येय की सिद्धि के लिए साधना करनेवाला उस ध्येय को पाने की इच्छावाला। जैन साधुओं का ध्येय मुख्य रूप से तो जीवनशुद्धि ही निश्चित किया गया है। जीवन को शुद्ध करने का मतलब है उसके बन्धन उसके मल उसके विक्षेप एवं उसकी संकुचितताओं को दूर करना। भगवान ने अपने जीवन द्वारा समझदार को ऐसा पदार्थपाठ सिखाया है कि जब तक वह स्वयं अपना जीवन अन्तर्मुख होकर नहीं जाँचता उसका शोधन नहीं करता स्वयं विचार एवं व्यवहार में स्थिर नहीं होता और अपने ध्येय के विषय में उसे स्पष्ट प्रतीति नहीं होती तब तक वह कैसे दूसरे को उस ओर ले जा सकता है? खास करके आध्यात्मिक जीवन जैसे महत्त्व के विषय में यदि किसी का नेतृत्व करना हो तो पहले—अर्थात् दूसरे के उपदेशक अथवा गुरु बनने से पहले—अपने-आपको उस विषय में बराबर तैयार करना चाहिए। इस तैयारी का समय ही साधना का समय है। ऐसी साधना के लिए एकान्त स्थान सेवी तथा अन्य लोगों से अकस्मात् किसी भी सामाजिक अथवा अन्य प्रपंचों में दिलचस्पी न रखना अमुक प्रकार के खाने-पीने में तथा रहन-सहन के नियम—इन सबकी आयोजना की गई है।

स्थानान्तर और लोकोपकार

इस संस्था में ऐसे असाधारण पुरुष पैदा हुए हैं, जिनमें अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म विचारणा सदा-सर्वदा विद्यमान रही थी। कई ऐसे भी हुए हैं, जिनमें बहिर्दृष्टि तो थी ही, और अन्तर्दृष्टि से भी रहित नहीं थे। कुछ ऐसे भी हुए हैं, जिनमें अन्तर्दृष्टि तो नगण्य अथवा सर्वथा गौण थी और बहिर्दृष्टि ही मुख्य हो गई थी। चाहे जो हो, परन्तु एक ओर समाज और कुलधर्म के रूप में जैनत्व का विस्तार होता गया और उस समाज में से ही साधु बनकर इस संस्था में दाखिल होते गये और दूसरी ओर साधुओं का वसतिस्थान भी धीरे-धीरे बदलता गया। जंगलों, पहाड़ों और नगर के बाहरी भागों में से साधुगण लोकवस्ती में आने लगे। साधुसंस्था ने जनसमुदाय में स्थान लेकर अनिच्छा से भी लोकसंसर्गजनित कुछ दोष अपना लिए हों, तो उसके साथ ही उस संस्था ने लोगों को अपने कुछ खास गुण भी दिये हैं, अथवा वैसा करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। जो त्यागी अन्तर्दृष्टिवाले थे और जिन्होंने जीवन में आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त की थी उनके शुभ और शुद्ध कृत्य का लेखा तो उनके साथ ही गया, क्योंकि उनको अपने जीवन की संस्मृति दूसरों को देने की तनिक भी परवाह नहीं थी, परन्तु जिन्होंने, अन्तर्दृष्टि होने, न होने अथवा कमोवेश होने पर भी लोककार्य में अपने प्रयत्न द्वारा कुछ अर्पण किया था उनकी स्मृति हमारे समक्ष वज्रलिपि में है—एक समय के मांसभोजी और मद्यपायी जनसमाज में मांस और मद्य की ओर जो अरुचि अथवा उसके सेवन में अधर्मबुद्धि उत्पन्न हुई है उसका श्रेय साधुसंस्था को कुछ कम नहीं है। साधुसंस्था का रात-दिन एक काम तो चलता ही रहता कि वे जहाँ कहीं जाते वहाँ सात व्यसन के त्याग का शब्द से और जीवन से पदार्थपाठ सिखाते। मांस के प्रति तिरस्कार, शराब के प्रति घृणा और व्यभिचार की अप्रतिष्ठा तथा ब्रह्मचर्य का बहुमान—इतना वातावरण लोकमानस में तैयार करने में साधुसंस्था का असाधारण प्रदान है इसका कोई इन्कार नहीं कर सकता।

(द० औ० चिं० भा० १, पृ० ४१२-४१६)

देवद्रव्य के रक्षण की सुन्दर व्यवस्था

जैनो के तीर्थ दो-पांच या दस नही, और वे भी देश के किसी एक भाग मे नही, किन्तु जहाँ जायें वहाँ चारो ओर फैले हुए हैं। यही किसी समय जैन समाज का विस्तार कितना था इसका सबूत है। जैन तीर्थों की एक खास संस्था ही है। गृह-मन्दिर तथा सर्वथा व्यक्तिगत स्वामित्व के मन्दिरो को एक ओर रखें, तो भी जिन पर छोटे-बडे संघ का आधिपत्य एव उनकी देखभाल हो ऐसे संघ के स्वामित्व वाले मन्दिरो मे छोटे-बडे भण्डार होते है। इन भण्डारो मे खासे पैसे जमा होते हैं, जिसे देवद्रव्य कहते हैं। इसमे सन्देह नही है कि यह देवद्रव्य इकट्ठा करने मे, उसकी सारसभाल रखने मे और कोई उसे चाँऊ न कर जाय इसके लिए योग्य व्यवस्था करने मे जैन समाज ने अत्यन्त चतुरता और ईमानदारी बरती है। भारत के दूसरे किसी सम्प्रदाय के देवद्रव्य मे जैन सम्प्रदाय के जितनी स्वच्छता शायद ही कही दिखाई दे। इसी प्रकार देवद्रव्य उसके निर्दिष्ट उद्देश्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं व्यय न हो, उसका दुरुपयोग न हो और कोई हजम न कर जाय उसके लिए जैन संघ ने एक नैतिक और सुन्दर व्यावहारिक वातावरण खडा किया है।

जानने योग्य बातें

तीर्थसंस्था के साथ मूर्ति का, मन्दिर का, भण्डार का और यात्रासंघ निकालने का—इन चार का अत्यन्त मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण इतिहास जुडा हुआ है। लकडी, धातु और पत्थर ने मूर्ति और मन्दिरो मे किस-किस प्रकार, किस-किस युग मे कैसा-कैसा भाग लिया, एक के बाद दूसरी व्यवस्था किस प्रकार आती गई, भण्डारो मे अव्यवस्था और गोलमाल कैसे पैदा हुए और उनकी जगह पुन व्यवस्था और नियत्रण किस तरह आये, समीप एव दूरस्थ तीर्थों में हजारो और लाखो मनुष्यो के संघ यात्रा के लिए किस प्रकार जाते और साथ ही वे क्या-क्या काम करते—यह सारा इतिहास खूब जानने जैसा है।

त्याग, शान्ति और विवेकभाव प्राप्त करने की प्रेरणा मे से ही हमने

और दूसरी ओर सम्प्रदायों की ज्ञान-विषयक स्पर्धा—इन दो कारणों से गुरुपाठ के रूप में चली आनेवाली समस्त पूर्वकालीन ज्ञानसम्पत्ति में परिवर्तन हो गया और वह बड़े-बड़े भण्डारों के रूप में व्यवस्थित होने लगी।

प्रत्येक गाँव और नगर के संघ को ऐसा लगता कि हमारे यहाँ ज्ञान-भण्डार होना ही चाहिए। प्रत्येक त्यागी साधु भी ज्ञानभण्डार की रक्षा और वृद्धि में ही धर्म की रक्षा मानने लगा। इसके परिणामस्वरूप भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जैन ज्ञानसम्पत्ति भण्डारों के रूप में व्यवस्थित हो गई। भण्डार पुस्तकों से उभरने लगे। पुस्तकों में भी विविध विषयों के तथा विविध सम्प्रदायों के ज्ञान का संग्रह होने लगा। संघ के भण्डार, साधुओं के भण्डार और व्यक्तियों की मालिकी के भी भण्डार—इस प्रकार भगवान् के मार्ग में भण्डार, भण्डार और भण्डार ही हो गये। इसके साथ ही वहाँ लेखनकला का विकास हुआ, लेखनवर्ग विकसित हुई और अभ्यासीवर्ग भी खूब बढ़ा। मुद्रणकला यहाँ नहीं आई थी उस समय भी किसी नये ग्रन्थ की रचना होते ही उसकी सैकड़ों नकलें तैयार हो जातीं और देश के सब कोनों में विद्वानों के पास पहुँच जातीं। इस प्रकार जैन सम्प्रदाय में ज्ञानसम्पत्ति की गंगा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती आई है। ज्ञान के प्रति सजीव भक्ति के परिणामस्वरूप इस समय भी ये भण्डार इतने अधिक हैं और उनमें इतना अधिक विविध एवं प्राचीन साहित्य है कि उसका अभ्यास करने के लिए विद्वानों की कमी महसूस होती है। विदेश के और इस देश के अनेक शोधकों और विद्वानों ने इन भण्डारों के पीछे वर्षों बिताये हैं और इनमें संगृहीत वस्तु तथा इनके प्राचीन रक्षाप्रबन्ध को देखकर वे चकित होते हैं।

ब्राह्मण और जैन भण्डारों के बीच अन्तर

ब्राह्मण सम्प्रदाय के और जैन सम्प्रदाय के भण्डारों के बीच एक अन्तर है और वह यह कि ब्राह्मण भण्डार व्यक्ति की मालिकी के होते हैं, जब कि जैन भण्डार बहुधा संघ की मालिकी के होते हैं, और कहीं व्यक्ति की मालिकी के होते हैं तो भी उनका सदुपयोग करने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र होता है, परन्तु दुरुपयोग होता हो तो प्रायः संघ की सत्ता आकर खड़ी होती

है। ब्राह्मण आश्विन मास में ही पुस्तकों में से वर्षाकाल की नमी दूर करने और पुस्तकों की देखभाल के लिए तीन दिन का सरस्वतीशयन नामक पर्व मनाते हैं जबकि जैन कार्तिक शुक्ला पंचमी को ज्ञानपंचमी कहकर उस दिन पुस्तकों और भण्डारों की पूजा करते हैं और उस निमित्त द्वारा चौमासे से होनेवाले बिगाड़ को भण्डारों में से दूर करते हैं। इस प्रकार जैन ज्ञानसंस्था जो एक समय जीवित थी उसमें अनेक परिवर्तन होते-होते और चढ़-बढ़ तथा अनेक वैविध्य का अनुभव करती-करती यह आज मूर्तरूप में हमारे समक्ष इस रूप में विद्यमान है।

(द अ चि भा १ पृ ३७१ ३७२)

जैन ज्ञान-भण्डारों की असाम्प्रदायिक दृष्टि

सैकड़ों वर्षों से जगह-जगह स्थापित बड़े-बड़े ज्ञान-भण्डारों में केवल जैन शास्त्र का या अध्यात्मशास्त्र का ही संग्रह-रक्षण नहीं हुआ है, बल्कि उसके द्वारा अनेकविध लौकिक शास्त्रों का असाम्प्रदायिक दृष्टि से संग्रह-संरक्षण हुआ है। क्या वैद्यक क्या ज्योतिष क्या मन्त्र-तन्त्र क्या संगीत क्या सामुद्रिक क्या भाषाशास्त्र काव्य नाटक पुराण अलंकार व कथाग्रन्थ और क्या सर्वदर्शन संबन्धी महत्त्व के शास्त्र—इन सभी का ज्ञानभण्डारों में संग्रह-संरक्षण ही नहीं हुआ है, बल्कि इनके अध्ययन व अध्यापन के द्वारा कुछ विशिष्ट विद्वानों ने ऐसी प्रतिभामूलक नव कृतियाँ भी रची हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं और मौलिक गिनी जाने लायक हैं तथा जो विश्वसाहित्य के संग्रह में स्थान पाने योग्य हैं। ज्ञानभण्डारों में से ऐसे ग्रन्थ मिले हैं जो बौद्ध आदि अन्य परंपरा के हैं और आज दुनिया के किसी भाग में मूलस्वरूप में अभी तक उपलब्ध भी नहीं हैं।

(द औ चि ख २ पृ ५१८-५१९)

१८

पर्युषण और संवत्सरी

जैन पर्वों का उद्देश्य

जैन पर्व सबसे अलग पड़ते हैं। जैनों का एक भी छोटा या बड़ा पर्व ऐसा नहीं है जो अर्थ या काम की भावना में से अथवा तो भय, लालच और विस्मय की भावना में से उत्पन्न हुआ हो, अथवा उसमें पीछे से प्रविष्ट वैसी भावना का शास्त्र से समर्थन किया जाता हो। निमित्त तीर्थंकरों के किसी कल्याणक का अथवा कोई दूसरा हो, परन्तु उस निमित्त से प्रचलित पर्व या त्योहारों का उद्देश्य सिर्फ ज्ञान और चारित्र की शुद्धि एवं पुष्टि करने का ही रखा गया है। एक दिन के अथवा एक से अधिक दिनों तक चलनेवाले त्योहारों के पीछे जैन परम्परा में मात्र यही एक उद्देश्य रहा है।

पर्युषण पर्व : श्रेष्ठ अष्टाह्निका

लम्बे त्योहारों में खास छः अष्टाह्निकाएँ (अट्ठाइयाँ) आती हैं। इनमें भी पर्युषण की अट्ठाई सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है, इसका मुख्य कारण तो उसमें आनेवाला सांवत्सरिक पर्व है। इन आठों दिन लोग यथा-शक्य धंधा-रोजगार कम करने का, ज्ञान-तप बढ़ाने का, ज्ञान, उदारता, आदि गुणों को पोसने का और ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण का प्रयत्न करते हैं। जहाँ देखो वहाँ जैन परम्परा में एक धार्मिक वातावरण, आषाढ़ मास के बादलों की भाँति, घिर आता है। ऐसे वातावरण के कारण इस समय भी इस पर्व के दिनों में नीचे की बातें सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं : (१) दौड़धूप कम करके यथाशक्य निवृत्ति और अवकाश प्राप्त करने का प्रयत्न, (२) खाने-पीने और दूसरे कई भोगों पर कमोबेश अंकुश, (३) शास्त्रश्रवण और आत्मचिन्तन की वृत्ति, (४) तपस्वी, त्यागियों

तथा मानसिक कालुष्य की योग्य प्रतिपत्ति—शुद्धि (५) जीवों को अभयदान देने का प्रयत्न (६) मनमुटाव भूलकर सबके साथ सच्ची मैत्री साधने की भावना।

श्वेताम्बर के दोनों फिरकों में यह अष्टाह्निका 'पर्युषण' (पज्जुसण) के नाम से ही प्रसिद्ध है और सामान्यतः दोनों में यह अष्टाह्निका एक साथ ही शुरू होती है तथा पूर्ण भी होती है परन्तु दिगम्बर परम्परा में आठ के स्थान पर दस दिन माने जाते हैं और पर्युषण के स्थान पर उसे 'दशलक्षणी' कहते हैं। उसका समय भी श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा भिन्न है। श्वेताम्बर परम्परा के पर्युषण पूर्ण होते ही दूसरे दिन से दिगम्बरों का दशलक्षणी पर्व शुरू होता है।

(द अ चि भा १ पृ ११६ ११७)

इस अठवाड़े में हम भगवान महावीर की पुण्यकथा सुनने और उनके धर्म पर विचार करने के लिए पूर्ण अवकाश प्राप्त कर सकते हैं। भगवान ने अपनी कठोर साधना के द्वारा जिन तत्त्वों का अनुभव किया था उन्होंने स्वयं ही जिन तत्त्वों को समकालीन सामाजिक परिस्थिति को सुधारने की दृष्टि से व्यवहार में रखा था और लोग तदनुसार जीवन जीएँ इस हेतु से जिन तत्त्वों का समर्थ रूप से प्रचार किया था वे तत्त्व संक्षेप में तीन हैं

(१) दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझकर जीवनव्यवहार चलाना, जिससे जीवन में सुखशीलता और विषमता के हिंसक तत्त्वों का प्रवेश न हो। (२) अपनी सुखसुविधा का समाज के हित के लिए, पूर्ण बलिदान देना, जिससे परिग्रह बन्धनरूप न होकर लोकोपकार में परिणत हो। (३) सतत जागृति और जीवन का अन्तर्निरीक्षण करते रहना जिससे अज्ञान अथवा निर्बलता के कारण प्रवेश पानेवाले दोषों पर निगरानी रखी जा सके और आत्म-पुरुषार्थ में न्यूनता न आने पावे।

(द अ चि भा १ पृ ४८३-४८४)

सांवत्सरिक महापर्व

सांवत्सरिक पर्व एक महापर्व है। दूसरे किसी भी पर्व की अपेक्षा यह महान् है। इसकी महत्ता किस में है यह हमें समझना चाहिए।

किसी भी व्यक्ति को सच्ची शान्ति का अनुभव करना हो, सुविधा या असुविधा, आपत्ति या सम्पत्ति मे स्वस्थता बनाये रखनी हो और व्यक्तित्व को खण्डित न करके उसकी आन्तरिक अखण्डितता सुरक्षित रखनी हो तो उसका एकमात्र और मुख्य उपाय यही है कि वह व्यक्ति अपनी जीवनप्रवृत्ति के प्रत्येक क्षेत्र का सूक्ष्मता से अवलोकन करे। इस आन्तरिक अवलोकन का उद्देश्य यही हो कि कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार से, किस-किस के साथ छोटी या बडी भूल हुई है यह वह देखे। जब कोई मनुष्य सच्चे हृदय से और नम्रतापूर्वक अपनी भूल देख लेता है तब उसे वह भूल, चाहे जितनी छोटी हो तो भी, पहाड जैसी बडी लगती है और उसे वह सह नही सकता। अपनी भूल और कमी का भान मनुष्य को जागृत और विवेकी बनाता है। जागृति और विवेक से मनुष्य को दूसरो के साथ सम्बन्ध कैसे रखना चाहिए और उनको किस तरह बढाना-घटाना चाहिए इसकी सूझ पैदा होती है। इस प्रकार आन्तरिक अवलोकन मनुष्य की चेतना को खण्डित होने से रोकता है। ऐसा नही है कि ऐसा अवलोकन केवल त्यागी और साधु-सन्तो के लिए ही आवश्यक हो, वह तो छोटी-बडी उम्र के और किसी भी रोजगार और सस्था के मनुष्य के लिए सफलता की दृष्टि मे आवश्यक है, क्योंकि वैसा करने से वह मनुष्य अपनी कमियों को दूर करते-करते ऊँचे उठता है और सबके मनो को जीत लेता है। यह सावत्सरिक पर्व के महत्त्व का एक मुख्य किन्तु व्यक्तिगत पक्ष हुआ, परन्तु इस महत्त्व का सामुदायिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। मैं जानता हूँ वहाँ तक, सामुदायिक दृष्टि से आन्तरिक अवलोकन का महत्त्व जितना इस पर्व को दिया गया है उतना किसी दूसरे पर्व को दूसरे किसी वर्ग ने नही दिया। इस पर से समझा जा सकता है कि सामुदायिक दृष्टि से आन्तरिक अवलोकनपूर्वक अपनी-अपनी भूल का स्वीकार करना तथा जिसके प्रति भूल हुई हो उसकी सच्चे दिल से क्षमायाचना करना और उसे भी क्षमा देना सामाजिक स्वास्थ्य के लिए भी कितना महत्त्व का है।

इसीसे जैन-परम्परा मे ऐसी प्रथा प्रचलित है कि प्रत्येक गाँव, नगर और शहर का सघ आपस-आपस मे क्षमायाचना करते हैं और एक-दूसरे को क्षमा प्रदान करते हैं, इतना ही नही, दूसरे स्थानो के सघ के साथ भी वे

वैसा ही व्यवहार करते हैं। सभी में केवल गृहस्थ ही नहीं बल्कि त्यागी भी आते हैं पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी आती हैं। सब आती केवल एक फिर्के एक गच्छ एक आचार्य या एक उपाश्रय के ही अनुयायी नहीं परन्तु जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक जैन। और, जैनों को केवल जैन परम्परावालों के साथ ही जीवन बिताना पड़ता है ऐसा नहीं है उनको दूसरों के साथ भी चलना ही काम पड़ता है और यदि भूल हो तो वह जैसे आपस-आपस में होती है वैसे दूसरों के साथ भी होती है। अतएव भूल-स्वीकार और क्षमा करने-कराने की प्रथा का रहस्य केवल जैन परम्परा में ही परिसमाप्त नहीं होता परन्तु वास्तव में तो वह रहस्य सभी जीवात्मा क्षमापना में अभिहित है। यह यहाँ तक कि ऐसी प्रथा का अनुसरण करनेवाला जैन सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अपन्न जीववर्ग से भी क्षमायाचना करता है—अज्ञात अथवा अज्ञानभाव से उसकी कोई भूल हुई हो तो वह क्षमा माँगता है।

वस्तुतः इस प्रथा के पीछे दृष्टि तो दूसरी है और वह यह कि जो मनुष्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव के प्रति भी कोमल बनने के लिए तैयार हो उसे तो सर्व प्रथम जिसके साथ मनमुटाव हुआ हो जिसके प्रति कटुता पैदा हुई हो एक-दूसरे की भावना को चोट पहुँची हो उसके साथ क्षमा लेकर मन स्वच्छ करना चाहिए।

(द० अ० चि० भा० १ पृ० ५५४-५५५)